जम्बूस्वामी चारित्र

अनुक्रमणिका

प्रथम-अधिकार
01) भूमिका

दूसरा-अधिकार
02) भरतक्षेत्र का मगधदेश

तीसरा-अधिकार
03) धर्मनगरी राजगृही

चौथा-अधिकार
04) धर्मपरायण महाराज श्रेणिक

विपुलाचल पर वीर प्रभो
05) पाँचवाँ-अधिकार

छठा-अधिकार
06) ऐरावत हाथी

सातवाँ-अधिकार
07) जिनेन्द्र का समवशरण

आठवाँ-अधिकार
08) समवशरण की रचना

नवां-अधिकार
09) श्रेणिक को समवशरण के समाचार

दसवां-अधिकार
10) भावदेव-भवदेव ब्राह्मण की कथा

ग्यारहवाँ-अधिकार
11) श्री सौधर्माचार्यजी का धर्मोपदेश

बारहवाँ-अधिकार
12) संसार से विरक्त भावदेव की मुनिदीक्षा

तेरहवाँ-अधिकार
13) भावदेव मुनिवर द्वारा वैरागी धर्मवर्षा

चौदहवाँ-अधिकार
14) भवदेव द्वारा मुनिदीक्षा अंगीकार

पंद्रहवाँ-अधिकार
15) नागवसु द्वारा आर्यिका व्रत धारण

सोलहवां-अधिकार
16) आर्यिका नागवसु द्वारा भवदेव का स्थितिकरण

सत्रहवाँ-अधिकार
17) मोक्षसाधिका नागवसु आर्यिका द्वारा भवदेव मुनि को संबोधन

अठारहवाँ-अधिकार
18) भवदेव मुनि द्वारा उत्कृष्ट मुनिचर्या का पालन

उन्नीसवाँ-अधिकार
19) उन्नीसवाँ-अधिकार

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्री-जम्बूस्वामी चरित्र

आभार :

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥
॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥
मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

भूमिका

चिदानंद चैतन्यमय, शुद्धातम को ध्याय ।
जम्बूस्वामी केवली, अन्तिम को सिरनाय ॥
रचूँ कथानक जो कह्यो, गुरु गौतम जिनराय ।
जम्बूस्वामी चरित को, सुनो भव्य मन लाय ॥

कथा :

जिनका प्रत्यक्ष ज्ञानरूपी किरणों का मण्डल त्रिभुवनरूप भवन में फैला हआ है, जो नौ केवल-लब्धि आदि अनंत गणों के साथ आरंभ हुए दिव्यदेह के धारी हैं, जो अजर हैं, अमर हैं, अयोनि-सम्भव हैं, अदग्ध हैं, अछेद्य हैं, अव्यक्त हैं, निरंजन हैं, निरामय हैं, अनवद्य हैं, जो तोष गुण (राग) से रहित होकर भी सेवकजनों के लिये कल्पवृक्ष के समान हैं, जिनने साध्य की सिद्धि कर ली है, संसार-सागर से जो उत्तीर्ण हुए हैं, जिनने जीतने योग्य सभी को जीत लिया होने से जितजेय हैं, जिनके हाथ-पैर आदि **अर्थ**ात् पूर्णत: सुखामृत में जो डूबे हुए हैं, जिनके वचन-किरणों से मोक्षमार्ग मुखरित हो रहा है, जो अठारह हजार शीत के गुणों के स्वामी होने से शैलेशीनाथ हैं, जो अक्षय गुणनिधि हैं - ऐसे श्री वीर प्रभु को एवं समस्त पंच परमेष्ठी भगवंतों को नमस्कार करके पूर्वाचार्यों के अनुसार इस हुण्डावसर्पिणी काल के अंतिम अनुबद्ध केवली श्री जम्बूस्वामी के पावन चरित्र को मैं कहूँगा। जिनका देह कामदेव के रूप से सुशोभित है, जिनका वक्षःस्थल पद्मा अर्थात् लक्ष्मी से युक्त है, प्रफुल्लित कमल के समान जिनका मुख है, विशाल एवं गंभीर नेत्रों से जो शोभित हैं, असाधारण प्रज्ञा के जो धनी हैं, सम्पूर्ण विद्याओं के जो निलय हैं, वज्रमयी अंग के जो धारक हैं, पुण्य की जो मूर्ति हैं, पवित्रता जिनका जीवन है, शांति जिनकी राह है, अहिंसा के जो पुजारी हैं, अनेकांतमयी वाणी जिनका वचन-श्रृंगार है, चक्रवर्ती के समान आज्ञा की प्रभुता जिनको वर्तती है, अनेक गुणों से जो अलंकृत हैं, चार-चार देवांगनाओं जैसी सुन्दर गुणवती कामनियों के द्वारा वाचनिक एवं शारीरिक कामोत्पादक चेष्टाओं की बौछारें पड़ने पर भी जो रंचमात्र भी चलायमान नहीं हुए - "धन्य-धन्य वे सूर साहसी, मन सुमेर जिनका नहीं काँपे", निज शुद्धात्मा जिनका ध्येय है और मोक्ष जिनका साध्य है, . ऐसे श्री जम्बूस्वामी का चरित्र कहने में यद्यपि महा मुनीन्द्र ही समर्थ हैं तो भी आचार्य परम्परा के उपदेश से आये हुए इस महान चरित्र को मेरे जैसे क्षुद्र प्राणी भी रच रहे हैं, इसका मूल कारण है कि मेरा मन बारंबार इसके लिये प्रेरित कर रहा है। यह साहस तो ऐसा है, जैसे मदोन्मत्त हाथियों के द्वारा संचलित मार्ग में भय के भंडार हिरण भी चले जाते हैं तथा जिनके आगे अजेय योद्धा चल रहे हों, उनके साथ साधारण योद्धा भी प्रवेश कर जाते हैं। इसीप्रकार सूर्य को दीपक दिखाने जैसा

मेरा यह साहस है। विशिष्ट पुरुषों के चितवन से मन तत्काल वैराग्य की प्रेरणा पाता है और सातिशय पुण्य का संचय करता है। आचार्यों ने कहा भी है कि मन की शोभा वैरागी रस से है, बुद्धि की शोभा हितार्थ के अवधारण में है, मस्तक की शोभा नव देवों को नमस्कार करने में है, नेत्रों की शोभा शांत-प्रशांत वीतरागरस झरती मुखमुद्रा के निहारने में है, कान की शोभा वीतरागमयी गुणों के श्रवण करने में है, घ्राण की शोभा आत्मिक सुख-शांतिदायक स्वास-प्रस्वास के लेने में है, जिह्वा की पवित्रता आत्मा-परमात्मा के गुणस्तवन में है, हृदय की शोभा अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगों में हित का मार्ग चुनने में है, भुजाओं की शोभा शांतरस गर्भित वीररस में है, हस्तयुगल की शोभा पात्रदान देने में, जगत के जीवों को अभयदान देने में और वीतरागता के पोषक वचनों को लिखने आदि में है, उदर की गंभीरता आत्महितकारक गुणों को संग्रहीत करने में है, पीठ की शोभा प्रतिकूलता के समूह में भी धर्म के मार्ग में सुमेरुसमान दृढ़ - अचल रहने में है।
जीवों की यह जड़मय देह रोगों से ग्रसित है, समस्त अशुचिता की खान है, कागज की झोपड़ी के समान क्षण में उड़ जानेवाली होने से अनित्य है और प्रतिसमय मृत्यु के सन्मुख अग्रसर है, परन्तु महापुरुषों का ज्ञानानंदमयी विग्रह (देह) होने से शाश्वत एवं अक्षय है, समस्त पवित्रताओं से निर्मित है, चैतन्यमयी गुणों का निकेतन है, उसकी उपासना जो भव्योत्तम करते हैं, वे अल्पकाल में गुणनिधान अशरीरी सिद्धत्वपने को प्राप्त होते हैं। पंचम परम पारिणामिक भाव को भजकर, पंचपरमेष्ठी का स्मरण करके, पंचेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके, पंच परावर्तन का अभाव करके, पंचमगति को प्राप्त श्री जम्बूस्वामी का यह उत्तम चरित्र है। इस उत्तम कथा के सुनने से या पढ़ने से मनुष्यों को जो सुख उत्पन्न होता है, वही बुद्धिमान मनुष्यों का स्वार्थ - आत्मप्रयोजन है तथा यही सातिशय पुण्य उपार्जन का कारण है।
श्री वर्धमान जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि में आया हुआ, श्री इन्द्रभूति गौतम गणधर के द्वारा प्रतिपादित किया गया तथा सुधर्माचार्य आदि आचार्य परम्परा से चला आया यह चरित्र है। इसे ही आगम के आधार से पांडे श्री राजमलजी ने संस्कृत पद्य में रचा, उसका हिन्दी अनुवाद ब्र. शीतलप्रसादजी कृत है, उसी के आधार से प्रस्तुत चरित्र रचा जा रहा है।
(अपने कथानायक श्री जम्बूस्वामी का भूतकाल यहीं से प्रारंभ होता है। इसे पढ़ते ही हम यह महसूस करेंगे कि धर्मात्माओं के साथ धर्म की शीतल छाया में पनपने वाला पुण्य भी अपनी छटा बिखेरता ही रहता है, क्योंकि पुण्य और पवित्रता का अपूर्व संगम स्थान धर्मात्मा ही हुआ करते हैं। जिस प्रकार युद्धक्षेत्र में लक्ष्मण को शक्ति लग जाने से वे निस्चेत हो गये थे, उस समय विशल्या के प्रवेश होते ही मूर्छा आदि संकटों ने अस्ताचल की राह ग्रहण कर ली थी। उसी प्रकार भावी धर्मात्माओं के अवतरित होने के पहले ही पाप एवं द:ख-दारिद्रय भी अस्ताचल की ओर गमन करने लग जाते हैं। चलिये, हम उस नगरी एवं नगरवासियों के पुण्य की छटा का अवलोकन करें।)

भरतक्षेत्र का मगधदेश

भरतक्षेत्र का मगधदेश

कथा :

जिस भरतक्षेत्र का हम अवलोकन करने जा रहे हैं, उसमें एक मगध नाम का प्रसिद्ध देश है। उस देश की प्रजा भोग-संपदाओं से सदा प्रसन्न हो नित्य उत्सव किया करती रहती है। वहाँ मेघों की सदा प्रसन्नता रहती है **अर्थ**ात् योग्य समय पर यथायोग्य वर्षा हुआ करती है। न अतिवृष्टि होती है और न अनावृष्टि तथा अनीति के प्रचार से भी वह देश शून्य है। राजाओं द्वारा प्रजा भी कर से मुक्त होने के कारण बाधारहित है। वहाँ सदा सुकाल वर्तता है। वहाँ के खेत एवं वृक्ष सदा धान्य एवं फलों को प्रदान करते रहते हैं।
जैसे - गुणवान ज्ञानीजन भव्यों के हृदय को आनंददायिनी वीतरागता की सौरभ सदा देते रहते हैं, वैसे ही मानो वहाँ के वृक्ष फलों से लदे हुए नम्रीभूत हो जगतजनों की क्षुधा शमन करने के लिए प्रेरणा करते रहते हैं, तथा पुष्प भी मंद-मंद सुगंध महकाते रहते हैं, पथिकगण भी मनमोहक वृक्षों की शीतल छाया का आनंद लाभ प्राप्त करते हैं। वहाँ के कूप और सरोवर जल से भरे हुए होने से मनुष्यों के आताप को हरते रहते हैं। निर्मल एवं शीतल जल से भरपूर वापिकाएँ मनुष्यों को उनकी तृषा बुझाने के लिये आह्वान करती हैं तथा उनके तटों पर स्थित वृक्ष अपनी छाया से सूर्यकृत आताप को हरते हैं।
उस देश की नदियाँ अपनी कलरव ध्वनि से युक्त जलराशि से परिपूर्ण अपनी टेढ़ी-मेढ़ी गति से दूर तक बह रही हैं, जिससे मनुष्य एवं पशु-पक्षी अपनी प्यास की तृप्ति का लाभ उठाते हैं। झीलों के तटों पर हंस कमल की दंडी के साथ कल्लोल कर रहे हैं। वनों में बड़े-बड़े मल्ल हाथी विचर रहे हैं। वहाँ बड़े-बड़े स्कंधधारी दृढ़ वृषभ, जिनके सींगों में कर्दम लगा हुआ है, वे थल-कमलों को देखकर पृथ्वी को खोदते रहते हैं। उस देश में स्वर्गपुरी समान नगर हैं, कुरुक्षेत्र समान चौड़ी सड़कें हैं, स्वर्ग-विमान समान, सुन्दर घर हैं, देवों समान प्रजा

सुखपूर्वक वास करती हुई शोभायमान हो रही है।

उस देश में कहीं भी आज्ञा-भंग एवं आतंक-उपद्रव का लेश भी नहीं है। हाँ, यदि कहीं भंग दीखने में आता है तो जल तरंगों में ही दीखता है। प्रजा मदशून्य है, यदि कहीं मद है तो हाथियों में है। प्रजा भवभीरु, सरल और निश्छल होने से दंड कहीं नजर ही नहीं आता। हाँ! यदि दंड कहीं दृष्टिगत होता है तो राजा के छत्र में। सरोवरों में तो जल का समूह है, लेकिन कोई नगर जलमग्न नहीं होता। गायें आदि भी योग्य समय पर संतान जन्म कर मनुष्यों को दूध देकर तृप्त करती हैं। मगधदेश की नारियाँ स्वभाव से सरल एवं सुन्दर हैं और पुरुष भी स्वभाव से चतुर हैं। देव-शास्त्र-गुरु की पूजा आदि तथा पात्रदान आदि में अति प्रीतिवंत हैं। ब्रह्मचर्य पालने में, व्रत-उपवास आदि करने में शक्तिशाली एवं रुचिवंत हैं। इत्यादि अनेक प्रकार की विशेषताओं से युक्त हैं। इससे यह विदित होता है कि श्रावकों में श्रावकोचित षट्कर्म एवं धर्म के प्रचार-प्रसार का कार्य अनादि से चला आ रहा है।

धर्मनगरी राजगृही

धर्मनगरी राजगृही

कथा :

इसी मगध देश के एक भाग में राजगृही नगरी शोभायमान है। जहाँ के प्रासादों पर तपाये हुए सुवर्ण के समान कलश चमकते हैं और राजसुभट इन्द्रों के समान शोभते हैं। नगरवासियों को कलशों की चमक में ऐसी भ्रांति हो जाया करती है कि मानो आकाश में चन्द्रमा चमक रहे हों। वहाँ शिखरबंदी गगनचुम्बी जिनालय एवं उन पर लहराती हुई पताकायें मानो जगतजन को धर्म-उपासना के लिये आह्वाहन कर रही हैं। वहाँ के महल और उनकी खिड़कियों एवं झरोखों में से बाहर की छटा को निरखने वाली महिलायें ऐसी शोभित हो रही हैं, जैसे सरोवर कमलों से शोभता है। जिसप्रकार जिनेन्द्र भगवान के तेज के सामने करोड़ों सूर्य भी शरमा जाते हैं, उसीप्रकार, स्वर्गलोक की देवियाँ भी राजगृही की नारियों की सुन्दरता के सामने शरमा जाती है। इत्यादि अनेक उपमायुक्त वह नगर है।

धर्मपरायण महाराज श्रेणिक

धर्मपरायण महाराज श्रेणिक

कथा :

वर्तमान तीर्थनायक श्री देवाधिदेव वीर प्रभु के चरण-कमलों से पवित्र यह राजगृही नगरी हैं, जिसमें भावी तीर्थंकर श्री श्रेणिक महाराज अपनी कुशाग्र बुद्धि एवं धार्मिक भावनाओं से युक्त राज्य करते हैं। जिनके चरणों में अनेक भूपाल नतमस्तक होते हैं तथा जिनका पौद्गलिक देह अनेक शुभ लक्षणों से युक्त है, जिसका वर्णन करना कठिन होने पर भी सामुद्रिक शास्त्रज्ञान के माध्यम से कुछ लक्षण कहे जाते हैं। श्रेणिक राजा रूप, लावण्य एवं सौन्दर्य सम्पन्न हैं। उनका मुख कमल-समान है और वाणी ऐसी मधुर एवं सारगर्भित है मानो सरस्वती ही हो, भ्रमर समान नेत्र जिनमुद्रा से अलंकृत हैं **अर्थ**ात् उनके नेत्र जिनदेव को ही मुख्यरूप से अपना विषय बनाते हैं। जो स्वयं गुरु नहीं, परन्तु गुरु समान जगतजनों को सच्चे शास्त्रों के अवलोकन का पाठ सिखाते हैं। जैसे ओस की बूंद कमलपत्र के संपर्क से मोती का रूप धारण कर लेती है, वैसे ही राजा के कंठहार के मोती चन्द्रमा की चमक से भी अधिक शोभा को धारण कर रहे हैं। उससे ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो राजा का चौड़ा एवं विशाल वक्षस्थल चंदन से सुरभित सुमेरू पर्वत के तट के समान है तथा उस पर चंद्रमा की चाँदनी ही छायी हुई है।

मेरू-सम मुकुट से शोभायमान जिनका मस्तक है, नीलपर्वत के समान जिनके केश हैं तथा नाभि ने भी नदी के आवर्त समान जहाँ गंभीरता धारण की है, कमल मंडल स्वर्णमय कटिबंधों से वेष्ठित हैं और दोनों जंघाएँ स्थिर गोल एवं सुगंधित हैं, उनके पैर रक्तामरयुक्त कोमल हैं, जो जलकमल की शोभा को धारण किये हुए हैं। राज्यसंपदा उनके सहवास से गौरवान्वित है और रूपसंपदा चंद्रमूर्ति समान आनंददायिनी है, उनका शास्त्रज्ञान भी शाश्वत अतीन्द्रिय आनंद प्रदाता है, क्योंकि बुद्धि की प्रवीणता आगम ज्ञान से ही शोभा को पाती है। जो आगमरूपी वाचक से वाच्य को ग्रहण करे वही शब्द, **अर्थ** एवं पदों के मर्म का वेत्ता होता है, तथा विनयवान एवं जितेन्द्रियता भी राजा में अपना स्थान जमाये हुए है। महाराज विद्या एवं कीर्ति के अनुरागी तो हैं ही, परंतु लौकिक वादित्र-रसिक भी हैं। वे लक्ष्मी समृद्ध तो हैं ही तथा विद्वानों द्वारा मान्य अर्थात् विद्वान भी उनकी आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं।

श्रेणिक नृप प्रतापशाली होने से अग्निसम मानकषाय से दग्ध अभिमानी शत्रु भी उनके सामने आते ही हिम समान ठंड़े हो जाते हैं और प्रवाहशाली होने से बड़े-बड़े नृप भी कमल की सौरभ को चूसने वाले भौंरों के समान इनके निकट आ नतमस्तक हो न्याय-नीति एवं धर्म का रसपान करते हैं।

(आइये! अब हम इसी नृप के मिथ्याबुद्धि युक्त भूतकाल का भी संक्षिप्त अवलोकन कर लें। आगम एवं लोक में सर्वत्र यह प्रसिद्ध है कि "अज्ञान समान कोई और अनर्थकारी नहीं"। जिस अभिप्राय **अर्थ**ात् मान्यता की विपरीतता ने निगोद तक की सैर अनंतों बार कराई है, उसी का एक नमूना प्रत्यक्ष भी देख लें। जिसमें अपने बौद्ध गुरुओं की चेलना द्वारा की गई परीक्षा को अपमान समझकर श्रेणिक ने अपने क्रोध का उपचार श्री वीतरागी मुनिराज पर उपसर्ग करके किया था।)

वह प्रसंग इसप्रकार था कि अनेक नगर, पर्वत, वनादि में विहार करते हुए श्री यशोधर मुनिराज राजगृही नगरी के पर्वत पर पधारे। वे वहाँ ध्यानमग्न थे कि उसी समय राजा श्रेणिक भी वन की छटा देखने के लिए घूमते-घूमते वहाँ पहुँचे। उन्हें देखकर श्रेणिक को अपने गुरुओं के अपमान का बदला लेने का भाव हो गया। राजा ने वहीं कहीं मरे हुए सर्प को मुनिराज के ऊपर डाल दिया, जिससे अगणित चींटी आदि हो जाने से उनके काटने की पीड़ा को वीतरागी संत ने साम्यभाव से सहनकर उस पर जय प्राप्त की।

उससमय श्रेणिक ने तीव्र मिथ्यात्व एवं अज्ञानता के कारण सातवें नरक की आयु का बंध किया था। उसी बुद्धिमान श्रेणिक ने बाद में काललब्धि और सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा विशुद्ध भाव को धारण कर श्री वर्धमान प्रभु के समवशरण में सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा विशुद्ध भाव को धारण कर क्षायिक सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया। वही राजा श्रेणिक का जीव शीघ्र ही कर्मवन को दग्ध कर भावी उत्सर्पिणी काल में श्री महापद्म नाम के प्रथम तीर्थकर होंगे।

इन्हीं राजा श्रेणिक की एक चेलना नामक रानी भी है, जो जैनधर्म परायण, पतिव्रता, व्रत, शील एवं सम्यग्दर्शन आदि गुणों से सम्पन्न भी है। यद्यपि श्रेणिक राजा के अंत:पुर में अनेक रानियां हैं, परन्तु रानी चेलना सत्यधर्म की उपासक होने से राजा के प्रेम की सर्वश्रेष्ठ पात्र है। वह रूप, लावण्य, यौवन आदि से युक्त होने से कल्पवृक्ष समान शोभती है। सदा जिनधर्म की आराधना से स्वयं तो आनंदामृत का रसपान करती ही है, परन्तु अपने पति बौद्धधर्मी श्रेणिक राजा को भी जिसने जिन-धर्म के सन्मुख किया है।

पाँचवाँ-अधिकार

विपुलाचल पर वीर प्रभो

कथा :

भव्य जीवों के संदेह निवारक श्री 108 पूज्य सन्मति (महावीर) मुनिराज अनेक वन-उपवन एवं पर्वतों पर विहार करते हुए राजगृही नगर के विपुलाचल पर्वत पर आ विराजमान हुए। प्रचुर आत्मिक स्वसंवेदन की उग्रता में वैशाख शुक्ला दशमी के शुभ दिन उन्हें केवलज्ञान लक्ष्मी उदित हुई, जिसके शुभ चिह्न स्वर्गपुरी, मध्यलोक आदि में दूर-दूर तक उदित हो गये **अर्थ**ात् स्वर्गवासी देवों के विमानों में क्षुभित समुद्र के शब्दों के समान घंटनाद होने लगा; ज्योतिषी देवों के विमानों में सिंहनाद गुंजायमान होने लगा, जिससे ऐरावत हाथी का मद भी गलित हो गया; व्यंतर देवों के निवास स्थानों में मेघों की गर्जना को भी दबा देनेवाले दुंदुभि बाजों के शब्द होने लगे और धरणेन्द्रों व भवनवासी देवों के भवनों में मधुर ध्वनिमय शंखों की महान ध्वनियाँ होने लगीं।

चतुर्निकाय देवों ने जब ये ध्वनियाँ सुनी, तब उनने अपने अवधिज्ञान से यह जान लिया कि पूज्य श्री सन्मति मुनिराज को केवलज्ञान सूर्य उदित हुआ है, इसीकारण हम लोगों के आसन कंपायमान हो रहे हैं। तभी देवों ने अपने-अपने सिंहासन से उठकर सात कदम आगे जाकर केवलज्ञानी वीर प्रभु को नमस्कार किया। वे जब वातावरण की ओर नजरें दौड़ाते हैं तो उन्हें चारों ओर की छटा कोई अद्भुत एवं निराली ही दिखाई देती है।

मनवांछित सिद्धि के दाता कल्पवृक्ष सम वीरप्रभु को लख कल्पवृक्ष भी दोलायमान होने लगे। उनसे निर्गत पुष्पों की वर्षा भी केवलज्ञानी प्रभु को पूजने लगी। मेघराज मानो स्वच्छ गगन से पराजित हो कहीं छिप गये, जिससे सर्व दिशायें अपनी निर्मलता को बिखेरने लगी। पृथ्वीराज भी कंटक एवं धूल रहित हो गये। वायुमंडल भी मंद, सुगंध, शीतल एवं मनभावनी बहारें चलाने लगा। केवलज्ञान रूपी पूर्ण चन्द्रमा को पाकर तीन जगत रूपी समुद्र भी आनंद तरंगों से पुलकित हो गया।

तभी केवली भगवान के दर्शन-पूजन के लिए सौधर्म इन्द्र ऐरावत हाथी पर आरूढ़ हो एवं अन्य सभी इन्द्र और देवगण अपनी-अपनी

योग्य सवारियों पर आरूढ़ हो आकाश मार्ग से गमन करते हुए शीघ्र ही प्रभु के निकट पहुँचे, सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने शीघ्र भव्य एवं जगत को आश्चर्यचकित कर देने वाले एवं इस भूतल से पाँच हजार धनुष ऊँचे समवशरण की रचना की। इन्द्र आदि सभी प्रभु के दर्शन करते हुए प्रभु की जय-जयकार करने लगे, वीर प्रभो की जय हो! महावीर प्रभो की जय हो! इसके बाद सभी अपने-अपने योग्य कोठों में बैठ गये।

सौधर्म इन्द्र का मन-चकोर प्रभु के आन्तरिक वैभव - अनंत केवलज्ञान, अनंत केवलदर्शन, अनंत अतीन्द्रिय सुख, अनंत वीर्य, अनंत प्रभुता, अनंत विभुता, अनंत आनंद, अनंत स्वच्छता, अनंत प्रकाश, अनंत ईश्वरता आदि को अनुमान ज्ञान से तथा बाह्य में अद्भुत पुण्य के भंडार शरीर को देख-देखकर मन ही मन आनंदित हो रहा है। अहो! यह कैसी अद्भुत रचना - मानो इसे दैवी शिल्पियों ने बड़ी ही भक्ति से अलौकिक रचा। जब प्रभु ही अलौकिक हैं, तब उनका समवशरण भी अलौकिक ही होना चाहिए; जिसमें अंतरिक्ष में विराजमान प्रभो! नभमंडल में चन्द्र के समान शोभ रहे हैं, उनका चैतन्यबिम्ब तो शरीर से भिन्न निराला ही है, परन्तु उनका देह भी समवशरण विभूति से अत्यन्त भिन्न निराला का निराला ही रहता है।

ऐरावत हाथी

ऐरावत हाथी

कथा :

(सौधर्म इन्द्र जिस हाथी पर आरूढ़ होकर आते हैं, उसकी क्या विशेषता है, उसका भी थोड़ा-सा ज्ञान कर लें)

सौधर्म इन्द्र जिस हाथी पर चढकर आते हैं, वह देवलोक में ही रहनेवाले अभियोग जाति का देव है, जो सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से अपनी विक्रिया द्वारा ही अति मनोहर हाथी का रूप धारण करके आता है। उसके बत्तीस मुख होते हैं, एक-एक मुख में आठ-आठ दाँत होते हैं, एक-एक दाँत पर एक-एक कमलिनी के आश्रय बत्तीस-बत्तीस कमल के फूल होते है। एक-एक कमल के बत्तीस-बत्तीस पत्ते होते हैं, उन प्रत्येक पत्तों पर बत्तीस-बत्तीस देवांगनाएँ नृत्य करती हैं, यह दृश्य अद्भुत होता है - ऐसा ऐरावत हाथी होता है, जिसपर आरूढ़ सौधर्म इन्द्र होता है, उसके आगे किन्नर देवियाँ मनोहर कंठ से श्री जिनेन्द्रदेव का जयगान करती हैं, बत्तीस व्यंतरेन्द्र चमर ढोरते रहते हैं, सिर पर मनोहर छत्र है, मनोहर शोभा धारण करनेवाली अप्सरायें साथ में चल रही है।

देव-देवियों द्वारा आकाश नील-रक्त आदि रंगों से रंग-बिरंगा रूप धारण किये हुए है। देवों का समूह त्रिलोकीनाथ की पूजन-सामग्री लिये हुए प्रभुभक्ति की भावना संजोये हुए आकाशमार्ग से गमन करता हुआ आ रहा था, वह ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो देवों के समूह रूपी समुद्र में अनेक तरंगें उठ रही हैं।

जिनेन्द्र का समवशरण

जिनेन्द्र का समवशरण

कथा :

अहंत भगवान के उपदेश देने की सभा का नाम समवशरण है, जहाँ बैठकर तिर्यंच, मनुष्य और देव - पुरुष व स्त्रियाँ सभी उनकी अमृतवाणी श्रवण कर अपने कर्ण तो तृप्त करते ही हैं, परंतु निज-स्वरूप की आराधना करके मोक्ष की तैयारी भी करते हैं। इसकी रचना विशेष प्रकार से देव लोग करते हैं। इसकी प्रथम सात भूमियों में बड़ी आकर्षक रचनाएँ, नाट्यशालाएँ, पुष्प वाटिकाएँ, वापिकायें, चैत्यवृक्ष आदि होते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्यजन अधिकतर इसी के देखने में उलझ जाते हैं। सच्चा श्रद्धालु ही अष्टभूमि में प्रवेश कर साक्षात् भगवान के दर्शनों से तथा अमृतवचनों से अपने नेत्र, कान व जीवन सफल करते हैं।

नाम की सार्थकता - इसमें समस्त सुर और असुर आकर दिव्यध्वनि के अवसर की प्रतीक्षा करते हुए बैठते हैं, इसलिए गणधरादि देवों ने इसका 'समवशरण' - ऐसा सार्थक नाम कहा है।

समवशरण में अन्य श्रुत-केवली आदि के उपदेश देने का स्थान - भवनभूमि नाम की सप्तम भूमि में स्तूपों से आगे एक पताका लगी हुई है, उसके आगे 1000 खम्भों पर खड़ा हुआ 'महोदय' नाम का मण्डप है, जिसमें मूर्तिमान श्रुतदेवता विद्यमान रहते हैं। उस श्रुतदेवता को दाहिने भाग में करके बहुश्रुत के धारक अनेक धीर-वीर मुनियों से घिरे श्रुतकेवली कल्याणकारी श्रुत का व्याख्यान करते हैं। महोदय

मण्डप से आधे विस्तारवाले चार परिवार मंडप और हैं, जिनमें कथा कहने वाले पुरुष आक्षेपणी आदि कथाएँ कहते रहते हैं। इन मंडपों के समीप में नाना प्रकार के फुटकर स्थान भी बने रहते हैं, जिनमें बैठकर केवलज्ञान आदि महा ऋद्धिओं के धारक ऋषि इच्छुक जनों के लिए उनको इष्ट वस्तुओं के स्वरूप का निरूपण करते हैं।

मिथ्यादृष्टि अभव्यजन श्रीमण्डप के भीतर नहीं जाते - समवशरण के बारह कोठों में मिथ्यादृष्टि अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते तथा अनध्यवसाय से युक्त, संदेह से संयुक्त और विविध प्रकार की विपरीतताओं से सहित जीव भी नहीं होते हैं। यही बात हरिवंशपुराण में भी कही गई है कि सप्तमभूमि में अनेक स्तूप हैं। उनमें सर्वार्थसिद्धि नाम के अनेकों स्तूप हैं। उनके आगे दैदीप्यमान शिखरों से युक्त भव्यकूट नाम के स्तूप होते हैं, जिन्हें अभव्य जीव नहीं देख पाते हैं।

समवशरण का माहात्म्य - एक-एक समवशरण में पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण विविध प्रकार के जीव जिनदेव की वंदना में प्रवृत्त होते हुए स्थित रहते हैं। यद्यपि कोठों के क्षेत्र से जीवों का क्षेत्रफल असंख्यातगुणा है, तथापि जिनदेव के माहात्म्य से वे सब जीव एक-दूसरे से अस्पृष्ट रहते हैं, और जिनेन्द्रदेव के माहात्म्य से बालक प्रभृति जीव प्रवेश करने अथवा निकलने में अन्तर्मुहर्त काल के भीतर संख्यात योजन चले जाते हैं, इसके अतिरिक्त किसी भी जीव को कभी भी कोई प्रकार की बाधादि नहीं आती **अर्थ**ात् आतंक, रोग, शोक, मरण, उत्पत्ति, बैर, कामबाधा तथा क्षुधा, तृषा आदि नहीं होने से चारों प्रकार का दान प्राप्त होता है। वे इसप्रकार हैं - प्रभु की दिव्यदेशना से ज्ञानदान तो मिलता ही है, वहाँ किसी को रोग नहीं होता इसलिए औषधदान हो गया, क्षुधा-तृषा नहीं लगने से आहारदान हो गया और किसी भी प्रकार का भय न

होने से अभयदान हो गया। इस तरह चारों दान वहाँ प्राप्त होते हैं ।

(सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर विक्रिया के द्वारा सम्पूर्ण तीर्थंकरों के समवशरण को विचित्र रूप से रचते हैं, यहाँ उसका भी थोड़ा अवलोकन कर लेना उचित है।)

समवशरण की रचना

समवशरण की रचना

कथा :

समवशरण के स्वरूप वर्णन में 31 अधिकार होते हैं - 1. सामान्यभूमि, 2. सोपान, 3. विन्यास, 4. वीथी, 5. धूलि साल (प्रथम कोट), 6. चैत्य-प्रासाद-भूमियाँ, 7. नृत्यशाला, 8. मानस्तम्भ, 9. वेदी, 10. खातिका-भूमि, 11. द्वितीय वेदी, 12. लताभूमि, 13. साल (द्वितीय कोट), 14. उपवनभूमि, 15. नृत्यशाला, 16. तृतीय वेदी, 17. ध्वज-भूमि, 18. साल (तृतीय कोट), 19. कल्पभूमि, 20. नृत्यशाला, 21. चतुर्थ वेदी, 22. भवन भूमि, 23. स्तूप, 24. साल (चतुर्थ कोट), 25. श्रीमण्डप, 26. बारह सभाओं की रचना, 27. पंचम वेदी, 28. प्रथम पीठ, 29. द्वितीय पीठ, 30. तृतीय पीठ और 31. गंधकुटी - ये पृथक्-पृथक् इकतीस अधिकार होते हैं।

समवशरण की सामान्यभूमि गोल होती है। उसकी चारों दिशाओं में देव, मनुष्य और तिर्यंचों को चढ़ने के लिए आकाश में बीस-बीस हजार स्वर्णमयी सीढ़ियाँ (सोपान) होती हैं। इसमें चार कोट, पाँच वेदियाँ, इनके बीच आठ भूमियाँ और सर्वत्र प्रत्येक के अन्तर भाग में तीन पीठ होते हैं, यह उसका विन्यास (कोटों आदि का सामान्य निर्देश) है। प्रत्येक दिशा के सोपानों से लेकर अष्टमभूमि के भीतर गंधकुटी की प्रथम पीठ तक एक-एक वीथी (सड़क) होती है। वीथियों के दोनों पार्श्वभागों में वीथियों जितनी ही लम्बी दो वेदियाँ होती हैं। आठों भूमियों के मूल में वज्रमय कपाटों से सुशोभित और देवों, मनुष्यों एवं तिर्यंचों के संचार से युक्त बहुत से तोरणद्वार होते हैं। सर्वप्रथम धूलिसाल नामक प्रथम कोट है। इसकी चारों दिशाओं में चार तोरणद्वार (गोपुर) हैं। प्रत्येक गोपुर (द्वार) के बाहर मंगलद्रव्य, नवनिधि व धूप पुतलियाँ स्थित हैं। प्रत्येक द्वार के अन्दर दोनों पार्श्वभागों में एक-एक नाट्यशाला है। ज्योतिषी देव इन द्वारों की रक्षा करते हैं। धूलिसाल कोट के भीतर चैत्य-प्रासाद-भूमियाँ हैं। जहाँ पाँच-पाँच प्रासादों के अन्तराल से एक-एक चैत्यालय स्थित है। इस भूमि के भीतर पूर्वोक्त चार वीथियों के पार्श्वभाग में नृत्यशालाएँ हैं, जिनमें 32 रंगभूमियाँ हैं। प्रत्येक रंगभूमि में 32 भवनवासी कन्यायें नृत्य करती हैं।

प्रथम (चैत्य-प्रासाद) भूमि के बहुमध्य भाग में चारों वीथियों के बीचोंबीच गोल मानस्तम्भ भूमि है। इस प्रथम चैत्य-प्रासाद-भूमि से आगे प्रथम वेदी है, जिसका सम्पूर्ण कथन धूलिसाल कोट के समान जानना। इस वेदी से आगे दूसरी खातिका भूमि है, जिसमें जल से पूर्ण

खातिकाएँ हैं। इससे आगे पूर्व वेदि सदृश ही द्वितीय वेदी है। इसके आगे तीसरी लताभूमि है, जो अनेक क्रीड़ा-पर्वतों व वापिकाओं आदि से शोभित है।

इसके आगे दूसरा कोट (साल) है, जिसका वर्णन धूलिसालवत् है, परन्तु यह यक्षदेवों से रक्षित है। इसके आगे चौथी उपवन नाम की चौथी भूमि है, जो अनेक प्रकार के वनों, वापिकाओं चैत्य वक्षों से शोभित है। सभी वनों के आश्रित सभी वीथियों के दोनों पार्श्वभागों में दो, दो (कुल 16) नृत्यशालाएँ होती हैं। आदि वाली (1 से लेकर 8 तक की) आठ नाट्यशालाओं में भवनवासी देव कन्याएँ और उससे आगे (9 से लेकर 16 तक) की आठ नाटयशालाओं में कल्पवासी देवकन्याएँ नृत्य करती हैं। इसके आगे पूर्व सदृश ही तीसरी वेदी है जो यक्षदेवों से रक्षित है। इसके आगे पाँचवीं ध्वजभूमि है, जिसकी प्रत्येक दिशा में सिंह, गज आदि दस चिह्नों से चिह्नित ध्वजाएँ हैं। प्रत्येक चिह्न वाली 108 ध्वजाएँ हैं और प्रत्येक ध्वजा अन्य 108 क्षुद्र ध्वजाओं से युक्त है। कुल ध्वजाएँ = (10 x 108 x 4) + (10 x 108 x 4 x 108) = 470880 हैं।

इसके आगे तृतीय कोट (साल) है, जिसका समस्त वर्णन धूलिसाल कोट के समान है। इसके आगे छठवीं कल्पभूमि है, जो दस प्रकार के कल्पवृक्षों से तथा अनेक वापिकाओं, प्रासादों, सिद्धार्थ वृक्षों (चैत्य वृक्षों) से शोभित है। कल्पभूमि के दोनों पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के आश्रित चार-चार (कुल 16) नृत्यशालाएँ हैं। यहाँ ज्योतिषी देव कन्याएँ नृत्य करती हैं। इसके आगे चौथी वेदी है, जो भवनवासी देवों द्वारा रक्षित हैं। इसके आगे सातवीं भवनभूमि हैं, जिनमें ध्वजा-पताकायुक्त अनेक भवन हैं। इस भवनभूमि के पार्श्वभागों में प्रत्येक वीथी के मध्य में जिनप्रतिमाओं युक्त नौ-नौ स्तूप (कुल 72 स्तूप) हैं। इसके आगे चतुर्थ कोट (साल) है, जो कल्पवासी देवों द्वारा रक्षित है।

इसके आगे अन्तिम आठवीं श्रीमण्डप भूमि है। इसमें कुल 16 सोलह दीवालों के मध्य बारह कोठे (सभा) हैं। इस कोठों के भीतर पूर्वादि प्रदक्षिण-क्रम से पृथक्-पृथक् बारह गण बैठते हैं। उन बारह कोठों में से प्रथम कोठे में अक्षीणमहानसिक ऋद्धि तथा सर्पिरास्त्रव, क्षीरास्त्रव एवं अमृतास्त्ररूप रस-ऋद्धियों के धारक पूज्य गणधर देव प्रमुख एवं अन्य मुनिराज बैठा करते हैं।

स्फटिकमणिमयी दीवालों से व्यवहित दूसरे कोठे में कल्पवासिनी देवियाँ एवं तीसरे कोठे में अतिशय विनम्र पूज्य आर्यिकाएँ और श्राविकाएँ बैटती हैं। चतुर्थ कोठे में परमभक्ति से संयुक्त ज्योतिषी देवों की देवियाँ और पाँचवें कोठे में व्यन्तर देवों की विनीत देवियाँ बैठती हैं। छठे कोठे में जिनेन्द्रदेव के अर्चन में कुशल भवनवासिनी देवियाँ और सातवें कोठे में दस प्रकार के जिनभक्त भवनवासी देव बैठते हैं। आठवें कोठे में किन्नरादिक आठ प्रकार के व्यन्तरदेव और नवमें कोठे में जिनेन्द्रदेव में मन को निर्विष्ट करनेवाले चन्द्र-सूर्यादिक ज्योतिषीदेव बैठते हैं। दसवें कोठे में सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त के देव एवं उनके इन्द्र तथा ग्यारहवें कोठे में चक्रवर्ती, माण्डलिक राजा एवं अन्य मनुष्य बैठते हैं और बारहवें कोठे में हाथी, सिंह, व्याघ्र और हिरणादिक तिर्यंच जीव बैठते हैं। इनमें परस्पर जाति-विरोधी जीव पूर्व वैर को छोड़कर शत्रु भी उत्तम मित्रभाव से संयुक्त होते हैं ।

इनके अनन्तर निर्मल स्फटिक पाषाणों से विरचित और अपने-अपने चतुर्थ कोट के सदृश विस्तारादि सहित पांचवीं वेदी होती है। इसके आगे वैडूर्य-मणियों से निर्मित प्रथम पीठ है, इस पीठ की ऊँचाई अपने-अपने मानस्तम्भादि की ऊँचाई सदृश है। इस पीठ के ऊपर बारह कोठों में से प्रत्येक कोठे के प्रवेश द्वार में एवं चारों वीथियों के सम्मुख सोलह-सोलह सोपान होते हैं। पीठ की परिधि का प्रमाण अपने-अपने विस्तार से तिगुणा होता है, यह पीठिका उत्तम रत्नों से निर्मित एवं अनुपम रमणीय शोभा से सम्पन्न होती है। चूड़ी सदृश गोल तथा नाना प्रकार के पूजा-द्रव्य एवं मंगलद्रव्यों सहित इस पीठ पर चारों दिशाओं में धर्मचक्र को सिर पर रखे हुए यक्षेन्द्र स्थित हैं। पूर्वोक्त गणधर देवादिक बारह गण उस पीठ पर चढ़कर और तीन प्रदक्षिणा देकर बार-बार जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं तथा सैकड़ों स्तुतियों द्वारा कीर्तन कर कर्मों की असंख्यात गुणश्रेणी रूप निर्जरा करके प्रसन्नचित्त होते हुए अपने-अपने कोठों में प्रवेश करते हैं **अर्थ**ात् अपने-अपने कोठों मे बैठ जाते हैं।

(इस प्रथम पीठ के ऊपर आगे कोई भी देव, मनुष्य, तिर्यंच आदि नहीं जाते।)

प्रथम पीठ के ऊपर द्वितीय पीठ होता है। उस स्वर्णमयी पीठ के ऊपर चढ़ने के लिए चारों दिशाओं में पाँच वर्ण के रत्नों से निर्मित समान आकार वाले आठ-आठ सोपान होते हैं। इस पीठ पर सिंह, बैल, कमल, चक्र, वस्त्र, माला, गरुड़ और हाथी इन चिह्नों से युक्त ध्वजाएँ शोभायमान हैं तथा अष्ट मंगलद्रव्य, नवनिधि, धूपघट आदि शोभित हैं।

(नोट :- ये धूपघट ऐसे नहीं होते कि उनमें अग्नि हो और उसमें धूप डालने से त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा होती हो। ये तो देवोपनीत हैं,

इनमें सुगंध तो होती है, परन्तु हिंसा रंचमात्र भी नहीं होती, इसीप्रकार पुष्प भी देवोपनीत होते हैं, वनस्पतिकाय के नहीं हैं, जो उनके तोड़ने में स्थावर जीवों की और उनमें रहनेवाले त्रस जीवों की हिंसा हो। समवशरण में हिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि सौधर्म इन्द्र विक्रिया से चाहे जैसी रचना करवा सकता है, फिर भी हिंसा लेशमात्र भी नहीं होती। पुष्प, दीप और धूपघट का वर्णन पढ़कर हिंसाकारक क्रियाओं का प्रचार वीतरागदेव के मंदिर में नहीं होना चाहिए।)

इस द्वितीय पीठ के ऊपर विविध प्रकार के रत्नों से खचित तृतीय पीठ होता है। उसकी ऊँचाई अपनी दूसरी पीठिका के सदृश होती है। इसका विस्तार प्रथम पीठ के विस्तार के चतुर्थ भाग प्रमाण होता है और तिगुणे विस्तार से कुछ अधिक इसकी परिधि होती है। सूर्यमण्डल सदृश गोल होती है। इस पीठ पर एक गंधकुटी होती है। यह गंधकुटी चामर, किंकणी, वन्दमाला एवं हारादिक से रमणीय, गोशीर, मलयचन्दन और कालागुरु समान धूपों की सुगंधसे व्याप्त, प्रज्वलित रत्नदीपों से युक्त तथा नाचती हुई विचित्र ध्वजाओं की पंक्तियों से संयुक्त होती है।

इस गंधकुटी की चौड़ाई पचास धनुष प्रमाण है और ऊँचाई पचहत्तर धनुष प्रमाण है। इस गंधकुटी के मध्य पादपीठ सहित उत्तम स्फटिकमणियों से निर्मित एवं घन्टियों के समूह से रमणीय सिंहासन होता है। लोकालोक को प्रकाशित करने के लिए सूर्य सदृश भगवान अरहन्त देव उस सिंहासन पर आकाश में चार अंगुत ले अन्तराल से विराजमान रहते हैं।

(नोट :- समवशरण का विस्तृत विवरण तिलोयपण्णति ग्रन्थ से तथा चित्रादि से सहित विवरण जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग 4 से जानना चाहिये।)

जिनेन्द्रदेव चौंतीस अतिशय से युक्त होते हैं, जिनमें जन्म के दस अतिशय तो विदित हैं एवं ग्यारह केवलज्ञान के अतिशय होते हैं, जो इसप्रकार हैं अपने स्थान से चारों दिशाओं में एक सौ योजन पर्यंत सुभिक्षता, आकाशगमन, अहिंसा (हिंसा का अभाव), स्वयं भोजन नहीं करना, उपसर्ग का अभाव, सबकी ओर मुख करके स्थित होना, छाया नहीं पड़ना, निर्निमेष दृष्टि, विद्याओं की ईशता, शरीर में नख-केश का न बढ़ना तथा अठारह महाभाषा, सात सौ लधु भाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की समस्त अक्षर-अनक्षरात्मक भाषाएँ हैं, उनमें तालु दाँत ओष्ठ और कण्ठ के व्यापार से रहित एक साथ स्वभावत: अस्खलित तथा अनुपम दिव्यध्वनि द्वारा भव्यजनों को दिव्य उपदेश तीनों संध्या कालों में नव मुहर्तों तक निकलना, जो एक योजन पर्यन्त विस्तारित हो जाती है। इसके अतिरिक्त इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के आने पर असमय में भी **अर्थ**ात् मध्यरात्रि में भी दिव्यध्वनि खिर जाती है और तेरह अतिशय देवों कृत होते हैं।

तीर्थंकर भगवंतों के अष्ट प्रातिहार्य भी होते हैं। तीर्थंकर प्रभु को जिस वृक्ष के नीचे केवलज्ञान लक्ष्मी उदित होती है, उस वृक्ष का नाम अशोकवृक्ष है, (श्री वीरप्रभु को जिस वृक्ष के नीचे कैवल्य प्रगट हुआ, उसका नाम लोक में शालवृक्ष होनेपर भी वह अशोकवृक्ष ही कहलाता है)। जो लटकती हुई मोतियों की मालाओं, घंटों के समूहों से रमणीय तथा पल्लवों एवं पुष्पों से झुकी हुई शाखाओं वाला यह अशोकवृक्ष अत्यन्त शोभायमान होता है। इस अशोकवृक्ष को देखकर इन्द्र का भी चित्त अपने उद्यान-वनों में नहीं रमता है। सिर पर तीन छत्र सिंहासन भक्तियुक्त गणों (द्वादश गण) द्वारा वेष्ठित दुन्दुभि वाद्य, पुष्पवृष्टि होना, प्रभामण्डल और देवों के हाथों से झुलाये (ढोरे) गए मृणाल, कुन्दपुष्प, चन्द्रमा एवं शंख जैसे सफेद चौंसठ चामरों से विराजमान जिनेन्द्र भगवान जयवन्त होते हैं। ऐसे मुक्तिपति तीर्थंकरों को मेरा नमस्कार हो।

श्रेणिक को समवशरण के समाचार

श्रेणिक को समवशरण के समाचार

कथा :

अनेक राजागणों से पूज्य ऐसे महाराजा श्रेणिक अपनी राजसभा में सिंहासन पर आसीन हैं। जैसे सुमेरु पर्वत से बहने वाले झरने सूर्य की किरणों से चमचमाते हैं, वैसे ही राजा श्रेणिक के दोनों ओर दुरनेवाले चमर चमचमा रहे हैं। तथा चंद्रमंडल समान सिर पर छत्र शोभ रहा है। इसी मंगलमयी बेला में राजगृही नगरी के विपुलाचलपर्वत को महामंगलमयी श्री वीरप्रभु के समवशरण ने पवित्र किया। इन्द्र ने भी प्रमुदित चित्त से द्वादश सभाओं की रत्नमयी रचना कराके अपने को कृतार्थ अनुभव किया। विपुलाचल पर्वत के उद्यानों में छहों ऋतुओं के फलफूल प्रगट होकर मानो प्रभु की पवित्रता का अभिनन्दन कर रहे हैं ।

तभी वनपाल ने उद्यान में प्रवेश किया, वहाँ कोयल की कूक सुनकर वह आश्चर्यचकित हो गया, वृक्षों की ओर देखते ही उसका विस्मय

दुगुना हो गया। बिना ऋतुओं के समस्त फलफूलों को देखकर किसे आश्चर्य नहीं होगा? तब फिर वह पर्वत की ओर देखता है तो उसे भव्य समवशरण एवं उसके मध्य विराजमान भगवान दिखे उसने तत्काल हाथ जोड़कर नमस्कार किया और शीघ्र ही श्रेष्ठतम फलों को चुनकर महाराजाधिराज श्रेणिक की सेवा में प्रस्तुत हुआ तथा राजा को प्रणाम कर सभी सुन्दर फलों को समर्पित करता हुआ खड़ा हो गया। महाराज श्रेणिक ने वनपाल से समस्त ऋतुओ के सुन्दर-सुन्दर फलों को पाकर आश्चर्य व्यक्त किया तथा उसके प्रस्तुत होने का कारण पूछा?

तब वनपाल हाथ जोड़कर रहने लगा - "हे राजन् ! मैं एक आनंदमयी समाचार सुनाने प्रस्तुत हुआ हूँ। वह समाचार यह है कि मैंने अपने ही नेत्रों से प्रत्यक्ष एक आश्चर्यकारी दृश्य देखा है, जिसका पूर्ण वर्णन तो मैं नहीं कर सकता हूँ, फिर भी कुछ वर्णन अवश्य करता हूँ। हे महाराज ! अनेक प्रकार से विपुलता को प्राप्त इस विपुलाचल पर्वत पर मंगलमयी देशना बरसाता हुआ श्री वीरप्रभु का समवशरण रचा हुआ है, जिसकी शोभा अद्भुत है। उसमें स्वर्गलोक के देवगण भी नतमस्तक हो, भक्तिविभोर हो प्रभु की सेवा-उपासना में मग्न हैं ।"

वनपाल से आनंदमयी समाचार सुनकर राजा अति ही आनंदित हुआ। सिंहासन से उठकर सात कदम आगे चलकर प्रभु को परोक्ष नमस्कार किया तथा उसने उसी समय तत्काल ही भेरी बजवाकर समस्त नगरवासियों को उत्साह सहित श्रीमजिनेन्द्र महावीर प्रभु के दर्शनार्थ चलने का समाचार कहला दिया।

श्री वीर प्रभु के विपुलाचल पर पधारने का संदेश शीघ्र ही सुगंधित वायु की भाँति सम्पूर्ण नगर में फैल गया। सभी नर-नारी शीघ्र ही स्वच्छ वस्त्रों को धारण कर हाथों में उत्तम-उत्तम द्रव्यों की थालियाँ लेकर पुलकित वदन चल दिये। भगवान के समवशरण के प्रताप से इस नगर में कोई रोगी नहीं रहा, कोई दीन-हीन और दरिद्री नहीं रहा, दुर्भिक्ष तो न जाने कहाँ चला गया। भूमि स्वर्ग-समान, कंकड़-कंटक रहित हो गई। मंद सुगंधित वायु चलने लगी।

महाराजा श्रेणिक भी समस्त इष्टजनों, श्रेष्ठजनों एवं नगरजनों के साथ श्रेष्ठ हाथी पर आसीन हो दल-बल सहित श्री वीर प्रभु के दर्शनार्थ विपुलाचल की ओर चल रहे हैं, परन्तु वे आज अत्यंत आश्चर्यचकित हैं, उन्हें ऐसा लग रहा है कि मानो उन्होंने नगर एवं उपवन प्रथम बार ही देखा हो। वे बारंबार विस्मय पूर्वक महावत से पूछते हैं - “हे महावत! तुम कौन से नगर में ले चल रहे हो? इस नगर को तो मैंने कभी देखा ही नहीं, इतनी सुगंधित वायु किस उपवन से आ रही है? यह पथ स्फटिकमणि के समान स्वच्छ क्यों दिख रहा है? ये पक्षीगण प्रमुदित हो मधुर स्वर से गायन क्यों कर रहे हैं? ये मयूरगण असमय में ही आनंद-विभोर हो नृत्य क्यों कर रहे हैं? अहो! यह कोयल की मीठी मधुर कूक कहाँ से आ रही है? अरे! अरे! महावत! देखो तो आम्रवृक्ष पीठे, स्वादिष्ट एवं लोचनानंद आमों के गुच्छों से शोभ रहे हैं, अरे, चारों ओर छहों ऋतुओं के फल-फूल ? ये बिना ऋतु के ऋतुराज वसंत कैसे आ गए ?"

सभी नगरवासी भी आश्चर्यचकित हैं, परन्तु राजा के साथ-साथ सभी चल रहे हैं। महावत भी सोचता है - "अरे! मैं कहीं अन्य रास्ते पर तो नहीं आ गया हूँ? यह सब क्या है? ऐसा तो मैंने भी कभी नहीं देखा।"

महावत चारों ओर अच्छी तरह देखता है, फिर उसे ऐसा निर्णय होता है - "नहीं, नहीं, यही सत्य मार्ग है।"

फिर महावत राजा को कहता है - "हे राजन् ! यह वही नगर एवं उपवन है, जहाँ आप प्रतिदिन आया करते हैं। आज ये नगर एवं उपवन भी श्री वीरप्रभु की केवल्य-लक्ष्मी का आनंद से स्वागत कर रहे हैं, इसलिए ही मनमोहक हरियाली फल-फूल एवं सभी पक्षीगण एकत्रित हुए हैं।"

वन में से वनराज सिंह, वाघ, हाथी, घोड़ा, सियार, चीता, वानर आदि और कूकर, बिल्ली, चूहा, सर्प, अजगर आदि सभी जाति विरोधी और अविरोधी थलचर पशु भी वैर-विरोध छोड़कर शांतभाव से प्रभु के दर्शनार्थ चले आ रहे हैं। काग, चिड़िया, मोर, कबूतर, तीता आदि सभी नभचर पक्षी भी आनंद से उड़ते हुए प्रभु के दर्शनार्थ आ रहे हैं। सभी प्राणी अत्यंत हर्षायमान हैं। प्रभु का कैवल्य सभी जीवों को निज कैवल्य प्रगटाने के लिए प्रेरणा दे रहा है।

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणी भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः॥

हे समस्त लोक के प्राणियों! तुम विभ्रमरूपी पर्दे को समूलतः चीरकर फेंक दो और यह जो शांतरस से लबालब भरा ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा है, उसमें अच्छी तरह सभी एकसाथ ही आकर अन्तर्मग्न हो जाओ **अर्थ**ात् अब बाहर आना ही नहीं।"

मानो यही बात दुन्दुभिवाद्य नाम का प्रतिहार्य भी कह रहा है - "हे जीवो! मोह रहित होकर जिनेन्द्र प्रभु की शरण में जाओ।"

भव्य जीवों को ऐसा उपदेश देने के लिए ही मानो देवों का दुन्दुभी बाजा गंभीर शब्द करता है। दुन्दुभी बाजे के गंभीर नाद की प्रेरणा से आकर्षित होकर राजा श्रेणिक आदि भी सभी जन प्रभु के दर्शनार्थ समवशरण में पहुँच चुके हैं। सभी ने हाथ जोड़कर, मस्तक नवाकर, भक्तिभाव से प्रभु को नमस्कार किया। तीन प्रदक्षिणा देकर सभी स्तुति कर रहे हैं -

नाथ चिद्रूप दिखावे रे, परम ध्रुव ध्येय सिखावे रे॥टेक॥

चेतनबिम्ब जिनेश्वर स्वामी, ध्यानमयी अविकारा ।

दर्पण सम चेतन पर्यय गुण, द्रव्य दिखावनहारा ॥

इसके बाद सभी ने अपने-अपने स्थान पर बैठकर प्रभु की दिव्यध्यनि श्रवण की। फिर श्रेणिक राजा ने हाथ जोड़कर विनय सहित गौतम स्वामी से कुछ प्रश्न पूछे - "हे गुरुवर! सात तत्त्वों का क्या स्वरूप है? धर्म किसे कहते हैं? उस धर्म की प्राप्ति का क्या उपाय है?"

तब चार ज्ञान से सुशोभित, अनेक ऋद्धियों के अधिपति एवं क्षमा, शांति, ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों के धारक श्री गौतम गणधरदेव ने राजा के प्रश्नों के उत्तर स्वरूप जीवादि तत्त्वों के स्वरूप का वर्णन किया - "हे भव्योत्तम! तत्त्व सात होते हैं, जिनके नाम इसप्रकार हैं जीव तत्त्व, अजीव तत्त्व, आस्रव तत्त्व, बंध तत्त्व, संवर तत्त्व, निर्जरा तत्त्व और मोक्ष तत्त्व। इनका स्वरूप क्रमश: इसप्रकार जानना चाहिये -

जीव तत्त्व :- छह द्रव्यों के समुदाय स्वरूप इस लोक में जो ज्ञान-दर्शन चेतना लक्षण से लक्षित है, वह जीव तत्त्व है। वह सदा सत्स्वरूप असंख्यातप्रदेशी अनादि-अनंत एवं अनंतगुणों का धारक है। वह परमार्थ से चैतन्य, सुख, सत्ता और अवबोध प्राणों से जीता है और व्यवहार से पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, आयु और श्वासोच्छवास - इन दस प्राणों से जीता है, इसे आत्मा भी कहते हैं। हे श्रेणिक ! ऐसे निजात्मा का ही आश्रय लेना योग्य है।

अजीव तत्त्व :- जिसमें ज्ञान-दर्शनादि गुण नहीं पाये जाते, जो सदा पूरन-गलन स्वभाव वाला तथा जिसमें स्पर्श, रस, गंध, और वर्ण पाये जाते हैं - ऐसा यह पुद्गल द्रव्य अजीव है और इसके अलावा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल - ये भी अचेतन एवं अमूर्तिक होने से अजीव तत्त्व में ही गर्भित है ।

आस्रव-बन्ध तत्त्व :- अपने आत्मस्वभाव को भूलकर जीव ने जो अनादि से मोह-राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुच्या एवं वेदादि के विकारी भाव किये हैं और अभी भी कर रहा है, वही आम्रव तत्त्व है तथा इन विकारी भावों को अच्छा मानकर उन्हें ही पोषता है, उनमें ही हितबुद्धि करता है - यही बन्ध तत्त्व है। ये ही जीव को दुःखरूप हैं और भावी दुःख के कारण हैं, इसलिए बुधजन इन्हें छोड़ देते हैं।

संवर-निर्जरा-मोक्ष तत्त्व :- जो जीव अपने ज्ञायक स्वभाव को जानकर, विकारी भावों को छोड़कर अपने में रमता है - स्थित होता है, उसे जो आंशिक वीतरागी भाव उत्पन्न होता है, वही संवर तत्त्व है और उत्पन्न हुए वीतरागी भावों में शुद्धि की वृद्धि होना ही निर्जरा तत्त्व है और निजात्मा में पूर्ण रमना **अर्थ**ात् पूर्ण शुद्धता का प्रगट होना एवं सम्पूर्ण अशुद्धता का नाश होना ही मोक्ष तत्त्व है ।

इन तत्त्वों का भाव सहित श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है। कहा भी है -

तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।

जो जीव इसप्रकार के श्रद्धान-ज्ञान-सहित व्रत-तप **अर्थ**ात् निजस्वरूप में विश्रांतिरूप तपादि करता है, वही सम्यक्चारित्र है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - इन तीनों की एकता ही मोक्षमार्ग है और यही धर्म है जो कि मोह-क्षोभ-विहीन निज आत्मा का परिणाम है। इसी मोक्षमार्ग पर चलकर अनंत जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है। तीनकाल और तीनलोक में यही एकमात्र उपाय है"।

इस प्रकार श्री गौतमस्वामी द्वारा तत्त्वों का एवं मोक्षमार्ग आदि धर्म का स्वरूप समझकर श्रेणिक राजा अति प्रसन्न हुए। इतने में ही आकाश से अद्भुत तेजयुक्त कोई पदार्थ नीचे उतरता हुआ दिखाई पड़ा। वह ऐसा चमक रहा था, मानो सूर्यबिम्ब ही अपना दूसरा रूप बनाकर पृथ्वीतल पर श्री वीतराग प्रभु के दर्शन के लिये आ रहा हो। सभी उस तेज को देख तो रहे हैं, मगर कुछ समझ नहीं पा रहे हैं, इसलिए उसी के संबंध में सभी जन आपस में एक-दूसरे से पूछने लगे - "ये क्या है ? ये क्या है?"

इसीप्रकार का प्रश्न श्रेणिक राजा के अन्दर भी उत्पन्न होने से वे अपनी जिज्ञासा शांत करने हेतु हाथ जोड़कर विनयसहित श्री गौतमस्वामी गुरुवर से पूछने लगे - “हे गुरुवर! यह तेज किस चीज का है, जो आकाश मार्ग से गमन करता हुआ पृथ्वीतल पर आ रहा है? इसके

अकस्मात् आने का क्या कारण है?"
गुरूवर बोले - "हे राजन! यह तेज महाऋद्धिधारी विद्युन्माली नाम के देव का है। धर्म में अनुराग होने से यह अपनी चारों देवियों सहित श्री वीरप्रभु की वंदना के लिए पृथ्वीतल पर चला आ रहा है। यह भव्यात्मा आज से सातवें दिन स्वर्ग से चयकर मानवपर्याय को धारण करेगा तथा इसी मनुष्यपर्याय में अपनी आराधना को पूर्ण करके मोक्षसुख को प्राप्त करेगा।
श्री गौतमस्वामी के मुख से उस तेजमयी देव का स्वरूप जानकर श्रेणिक राजा का हृदय एक ओर तो उस आराधक की बात सुनकर प्रभुदित हो उठा, दूसरी ओर देवों की अंतिम छह माह में क्या स्थिति होती है, उस बात को याद करके स्तब्ध हो गया। कुछ विचार करने के बाद राजा ने अंजुली जोड़कर पूछा - "हे गुरुवर! कुछ समय पूर्व ही मैंने शास्त्र में पढ़ा था कि देवों की मृत्यु के छह माह पूर्व उनकी माला मुरझा जाती है, शरीर कांतिहीन हो जाता है, कल्पवृक्षों की ज्योति मंद हो जाती है; परन्तु हे नाथ! इस देव के तो ये कुछ चिह्न दिखाई ही नहीं देते। इसका क्या कारण है?"
श्रेणिक राजा के अन्दर उत्पन्न हए संशयरूपी अंधकार को नष्ट करनेवाली सहज ही श्री वीर प्रभु की दिव्यध्वनि खिरी - "हे भव्य ! इस देव का वृत्तांत जगत को आश्चर्यकारी एवं वैराग्योत्पादक है। यह देव इसके बाद मनुष्यपर्याय को धारण करके केवलज्ञान लेकर अंतिम केवली बनकर मुक्त दशा को प्राप्त करेगा।"
श्रेणिक - "हे प्रभो! अद्भुत दैदीप्यमान तेज के धारी इस पवित्रात्मा देव की पूर्व भवों की साधना-आराधना का वृत्तांत सुनने की मुझे जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। उसे बताकर हम पर उपकार कीजिए।"
तब वीरप्रभु की दिव्यध्वनि खिरी -

भावदेव-भवदेव ब्राह्मण की कथा

भावदेव-भवदेव ब्राह्मण की कथा
कथा :
धन-धान्य एवं सुवर्णादि से पूर्ण इस मगधदेश में पूर्वकाल में एक वर्धमान नाम का नगर था, जो वन, उपवन, कोट एवं खाइयों से युक्त और अत्यन्त शोभनीय था। उसी नगर में वेदों के ज्ञाता अनेक ब्राह्मण लोग रहते थे, जो पुण्य-प्राप्ति हेतु यज्ञ में पशु आदि की बलि चढ़ाते थे। उन्हीं में एक आर्यवसु नाम का ब्राह्मण भी था, वह भी धर्म-कर्म में प्रवीण था। उसकी सोमशर्मा नाम की पत्नी थी, जो सीता के समान सुशील एवं पतिव्रता थी। उसके भावदेव और भवदेव नाम के दो पुत्र थे, जो चन्द्र-सूर्य के समान शोभते थे। जाति से ब्राह्मण होने के कारण उन्होंने वेद, शास्त्र, व्याकरण, वैद्यक, तर्क, छन्द, ज्योतिष, संगीत, काव्य-अलंकार आदि विद्याओं में कुशलता प्राप्त कर ली थी। दोनों ही भाई ज्ञान-विज्ञान एवं वाद-विवाद में अति प्रवीण थे और जैसे पुण्य के साथ इन्द्रिय सुख का प्रेम होता है, वैसे ही दोनों आपस में प्रीतिवंत थे । दोनों ही सुखपूर्वक वृद्धिंगत होते-होते कुमार अवस्था को प्राप्त हुए ही थे कि पापोदय से उनके पिता को कुष्ट रोग हो गया। उसके आँख, नाक आदि अंग-उपांग गलने लगे, जिससे वह दुःख में अति व्याकुल हो गया था।
अरे, रे! प्राणियों को अज्ञान के समान और कोई दूसरा दुःख नहीं है। ज्ञान-नेत्र बन्द होने से उसने पशुबलि आदि विवेकहीन कार्यों में पंचेन्द्रिय जीवों को वचनातीत दुःख दिये थे, उनका फल तत्काल ही वह भोगने लगा। किसी भी इन्द्रिय का विषय-सेवन अच्छा नहीं। जब न्याय-नीति से प्राप्त उचित भोग आदि कार्य भी पापबंध के कारण होते हैं, तब भला पापों में मस्त होकर किये गये अनुचित कार्य कहाँतक अच्छे हो सकते हैं? इसलिये ज्ञानियों ने इन्द्रिय-विषयों को संसारस्वरूप तथा दुःखदायक जानकर विषतुल्य त्याग ही दिये। ये त्यागने योग्य ही हैं। आत्मा का आनंद निर्विकारी है, मोक्षसुख दायक हैं, इसलिए हे भव्य ! उसी धर्मामृत का पान करो। यह मनुष्य रत्न बार-बार मिलना मुश्किल है। मनुष्यभव को हारने का कभी विचार भी नहीं करना चाहिए।
इतना होने पर भी अज्ञान-अंधकार से ग्रसित वह ब्राह्मण वेदना से छुटकारा पाने से लिए नित्य ही अपना मरण चाहने लगा, मगर आयु पूर्ण हुए बिना मरण कैसे हो सकता है? मरण न होने से वह कीट-पतंग के समान स्वयं अग्नि की चिता में गिरकर भस्म हो गया। पति-वियोग से पीड़ित उसकी पत्नी सोमशर्मा भी उसी चिता में जलकर भस्म हो गई। माता-पिता से रहित वे दोनों भाई महादु:खी हो गये। उन दोनों बालकों के ऊपर संकटों का पहाड़ टूट पड़ा, वे शोक से संतापित हो करुणा-उत्पादक विलाप करने लगे, तब उन्हें उनके परिवारजनों ने संबोधन कर धीरज बँधाया, जिससे वे दोनों कुछ सावधान हुए। उसके बाद उन्होंने अपने माता-पिता के उस कुल में जो-जो संध्या तर्पण

आदि क्रिया-कर्म होते, उन्हें किया। पश्चात् अपने गृहकार्य आदि में लग गये तथा इसीप्रकार संसारिक कार्यों में लगे उनको बहुत दिन बीत गये।

उनके महाभाग्य से उसी नगर के वन में एक वीतरागी संत श्री सौधर्माचार्य योगिराज पधारे, जो साक्षात् धर्म की मूर्ति ही थे। वे रत्नत्रय के धारी, बाह्याभ्यंतर सभी प्रकार के परिग्रह के त्यागी, जन्मे हुए बालकवत् नग्न दिगम्बर रूप के धारी एवं व्रत-समितियों में पूर्ण निर्दोष आचरणवंत थे। वे दया, क्षमा, शांति आदि गुणों से विभूषित थे। वे एकांत मतों के खण्डन करनेवाले एवं स्याद्वाद विद्या के धारी थे। वे उपसर्ग-परीषहों पर जय प्राप्त करनेवाले एवं तपरूपी धन से अलंकृत थे। ऐसे अनेक गुण युक्त वे आचार्य आठ मुनियों के संघ सहित वन में आ विराजमान हुए। अहो! मुनिराजों का स्वरूप कितना अलौकिक है। वीतरागी संतों का स्वरूप ऐसा ही होता है। वहाँ पूज्यवर सौधर्माचार्यजी का जगतजन को हितकर, वैराग्यवर्द्धक और आनंदमयी धर्मोपदेश हो रहा है। "चलूँ, मैं भी धर्मामृत का पान करूँ" - इस प्रकार विचार करके भावदेव ब्राह्मण वन के लिए चल दिया तथा शीघ्र ही वन में पहुँच कर आचार्यदेव को नमस्कार कर वहीं बैठ गया।

श्री सौधर्माचार्यजी का धर्मोपदेश

श्री सौधर्माचार्यजी का धर्मोपदेश

कथा :

हे भव्य जीवों! इस संसार में सभी प्राणी धर्म से अनभिज्ञ होने से दु:खी हैं। चारों गतियों में प्राय: सभी जीव आत्माराधना से विमुख होकर मोह, राग, द्वेष में कुशलता के कारण दारुण दुःख से दुःखी हैं। संयोगों की अनुकूलता सुख का कारण नहीं और संयोगों का वियोग दुःख का कारण नहीं है। आत्मा में शरीर, मन, वाणी और इन्द्रियाँ नहीं हैं, भोग और उपभोग भी नहीं है। शरीरादिक स्वयं सुख से रहित हैं, उनमें सुख की कल्पना से सुखमयी निजात्मा को भूलकर, इन्द्रियों और उनके विषयों को इष्ट-अनिष्ट मानकर, सुख से बहुत दूर हो अनादि से यह आत्मा वर्त रहा है।

हे आत्मन् ! तुम स्वयं ज्ञान-आनंदमयी वस्तु हो, निजात्मा को शाश्वत सुखमयी वस्तु मानो और अतीन्द्रिय आनंद का भोग करो। इन अनित्य वस्तुओं में नित्य की कल्पना से, दुर्गति के कारणभूत मिथ्यात्वादि भावों में सुगति के भ्रम से, हे आत्मन्! तुम झपट्टे क्यों मार रहे हो? हे जीव! तू सुखाभासों में सुख के भ्रम से भूला है। तेरा सच्चा सुख तो तेरे में ही है और निज के आश्रय से उत्पन्न होने वाला रत्नत्रय ही धर्म है। इसलिए अपनी आराधना कर! अपनी प्रभुता को तू देख! उसका विश्वास करके उसमें ही लीन हो जा! इत्यादि अनेक प्रकार से आचार्यदेव से ज्ञानामृत का पान कर भावदेव प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। उसे अब शीघ्र ही इस परम पवित्र धर्म को धारण करने की भावना जाग उठी ।

संसार से विरक्त भावदेव की मुनिदीक्षा

संसार से विरक्त भावदेव की मुनिदीक्षा

कथा :

आचार्यवर का भवताप-नाशक और अनंत-सुखदायक उपदेश श्रवण कर भावदेव ब्राह्मण का हृदय भव और भव के भावों से काँप उठा। उसके हृदय में संसार, देह, भागों के प्रति उदासीनता छा गई। मन-मयूर तो वैराग्यरस में हिलोरें लेने लगा। अब उसे एक क्षण भी इस संसार में नहीं रुचता था। वह अविलंब श्री सौधर्माचार्य गुरुवर के निकट जाकर विनय से हाथ जोड़कर मस्तक नवाकर प्रार्थना करने लगा . "हे गुरुवर! मुझे परम आनंददायिनी भगवती जिनदीक्षा देकर अनुगृहीत कीजिए। हे स्वामिन् ! मैं भवसमुद्र में डूब रहा हूँ, रत्नत्रय का दान देकर आप मेरी रक्षा कीजिए। अब मुझे मोक्ष का आनंदमयी अविनाशी सुख चाहिए। इन सुखाभासों में कभी सच्चे सुख की परछाई भी मुझे नहीं मिली। इसलिए हे प्रभो! मैं सर्व परिग्रह एवं सर्व सावध का त्याग करके आकिंचन्यत्व प्राप्त करना चाहता हैं। इसमें ही मुझे सच्चा सुख भासित हो रहा है।"

भावदेव ब्राह्मण के भावों को देखकर एवं शांति की पिपासा भरे वचनों को सुनकर श्री सौधर्माचार्य गुरुवर ने उसे जाति, कुल आदि से पात्र जानकर अतीन्द्रिय आनंद देनेवाली और संसार-दुखों से मुक्ति प्रदान करनेवाली जैनेश्वरी दीक्षा देकर अनुगृहीत किया। श्री भावदेव मुनिराज मुक्ति की संगिनी जिनदीक्षा को प्राप्त कर अतीन्द्रिय आनंद का रसास्वादन करने लगे। शरीर होने पर भी अशरीरी दशा को

साधने लगे। सिद्ध प्रभु से बातें करने लगे। आ हा हा! चलते-फिरते सिद्ध के समान उनमें तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप अकषायरस आनंदरस- वैराग्यरस उछलने लगा। स्वभाव की साधना देख विभाव एवं कर्मबंधनों ने अस्ताचल की राह ग्रहण कर ली।

जिस समय हो आत्मदृष्टि कर्म थर-थर काँपते हैं ।

स्वभाव की एकाग्रता लख छोड़ खुद ही भागते हैं ।

संयम की संभाल करते हुए योगीराज श्री भावदेवजी इस पृथ्वीतल पर ईर्यासमिति पूर्वक, गुणों के निधान गुरुवर के साथ ही विहार करने लगे। सुख-दुःख के प्रसंगों में समताभावपूर्वक कभी आत्मध्यान, तो कभी स्वाध्याय में रत हो विचरण करने लगे। नि:संगी आत्मा की निःशल्य हो सम्यक् प्रकार से आराधना करने लगे, संतों की अंतर्बाह्य सहज दशा को निम्न प्रकार से कहा जा सकता है।

विषयसुख विरक्ताः शुद्धतत्त्वानुरक्ता:

तपसि निरतचित्ता: शास्त्रसंघातमत्ताः ।

गुणमणिगणयुक्ताः सर्वसंकल्पमुक्ताः

कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेतेः ॥

जो विषयसुख से विरक्त हैं, शुद्ध तत्त्व में अनुरक्त हैं, तप में लीन जिनका चित्त है, शास्त्रसमूह में जो मत्त हैं, गुणरूपी मणियों के समुदाय से युक्त हैं और सर्व संकल्पों से मुक्त हैं, वे मुक्तिसुन्दरी के वल्लभ क्यों न होंगे? अवश्य ही होंगे।

गुणनिधि गुरुवर के उपदेश से निज परम-ब्रह्म भगवान आत्मा को देखकर भावदेव महाराज को अन्दर में ध्रुवधाम ध्येय की धुन लग गई। उस धुन ही धुन में वे उग्र तप तपने लगे। पश्चात् सविकल्प दशा में आकर वे विचारते हैं कि -

स्वाध्यायध्यानमैकाग्रयं ध्यायन्निह निरंतरम् ।

शब्दब्रह्ममयं तत्वमभ्यसन् विनयानतः ॥

मैं धन्य हूँ, कृतार्थ हूँ, भाग्यवान हूँ, अवश्य ही मैं भवसागर से तिरनेवाला हूँ, जो मैंने इस उत्तम जैनधर्म का लाभ प्राप्त किया है ।

अनेक वन, उपवन, पर्वतों में संयम की साधना करते हुए एवं धर्मामृत की वर्षा करते हुए श्री सौधर्माचार्यजी संघ सहित विहार करते-करते कुछ समय बाद वर्धमानपुर (श्री भावदेव मुनिराज के नगर) में पुनः पधारे। स्व-पर के हित में तत्पर, शांत, प्रशांत रस में तल्लीन भावदेव मुनिराज को वहाँ अपने गृहस्थदशा के छोटे भाई भवदेव को संबोधित कर कल्याण मार्ग में लगाने का विचार आया। भवदेव ब्राह्मण उस नगर का प्रसिद्ध ख्याति-प्राप्त व्यक्ति था, परन्तु विषयों की आँधी उस पर अपना रंग जमाये हुई थी। लेकिन हठग्राही, एकांतमतों के शास्त्रों में पारंगत, आत्महितकारी यथार्थ बोध से विमुख भवदेव की भव्यता का पाक **अर्थ**ात् यथार्थ बोध प्राप्ति की काललब्धि भी अब अति ही निकट आ गई थी।

भवि भागन वच जोगे वसाय,

तुम ध्वनि है सुनि विभ्रम नसाय।

"नगर के वन में श्री सौधर्माचार्य संघ सहित पधारे हुए हैं" - यह समाचार वायुवेग के समान सारी वर्धमानपुरी में फैल गया। इसलिये चारों ओर से नर-नारियों का समुदाय मुनिवरों के दर्शनार्थ उमड़ पड़ा। भवदेव को भी यह शुभ समाचार ज्ञात हुआ कि मुनिवर-वृन्दों के संघ में मेरे बड़े भ्राता श्री भावदेव मुनिराज भी पधारे हुए हैं। अपने भाई एवं गुरुजनों के दर्शनों की अति तीव्र भावना होने पर भी वह स्वयं के विवाह कार्य में व्यस्त होने से वहाँ नहीं जा पाया, परन्तु जैसे वीरप्रभु को सिंह के भव में उसे संबोधन करने हेतु आकाशमार्ग से दो चारणऋद्धिधारी मुनिवरों का आगमन हुआ था, उसीतरह भवदेव के साथ भी ऐसा बनाव बना कि - श्री भावदेव मुनिराज चर्या हेतु नगर में पधारे, उसीसमय भवदेव को उनके दर्शन का लाभ अनायास ही प्राप्त हो गया।

भवदेव तो आश्चर्यचकित हो मुनिवर की प्रशांत रस झरती वीतरागी मुद्रा को निर्निमेष देखता ही रहा। यद्यपि उसके हृदय में जो जिनधर्म के प्रति अप्रीति के भाव थे, तथापि वे सभी ऐसे पलायमान हो गये जैसे शीतल वायु (बरसाती हवा) के सम्पर्क से नमक पानी का रूप धारण कर बह जाया करता है। वह सोचता है कि "यह कोई चमत्कार है या मेरी दृष्टि में कुछ हो गया है, जो ये नग्न पुरुष इतने आनंदमय सौम्य मुद्रावंत दिखाई दे रहे हैं, जिनके वदन पर वस्त्र का एक ताना-बाना भी नहीं, पास में रंचमात्र भी धन-वैभव नहीं, उन वनखंडों के वासियों में यह शांति कहाँ से आ रही है ? भूख, प्यास, ठंडी, गर्मी, उपसर्ग, परीषहों की बाधाओं के मध्य यह कमल कैसे खिल रहा है? पंच

इन्द्रियों के भोग-उपभोगों के साधनों के अभाव में ये सुख की अनुभूति कैसी? व्रत, उपासना, नीरस आहार आदि से इस वदन में कुंदन समान चमक कैसे आई ?"

इत्यादि अनेक प्रकार के विचारों से ग्रसित मन को उसने सत्यता की खोज के लिए बाध्य कर ही दिया। सत्य के उस खोजी को अनेक प्रकार की ऊहा-पोह के बाद सत्यता का रहस्य हाथ लग ही गया। वह सत्यता थी जिनशासन एवं वीतरागभाव की। जिनशासन की यथार्थता का रहस्य पाकर वह मन ही मन अति प्रसन्न हो मुनिराज के चरणारविन्दों में नतमस्तक हो समीप में ही बैठ गया।

ज्ञानपयोनिधि मुनिराज श्री भावदेव ने उसके अन्तर की भावनाओं को, उसकी उदासीनता गर्भित प्रसन्नता को भाँप लिया। उसकी पात्रता मुनिराज के ख्याल में आ गई, इसलिए उनके मन में उस परम सुखदायक आर्हत धर्म का उपदेश देने का भाव उदित हो गया।

भावदेव मुनिवर द्वारा वैरागी धर्मवर्षा

भावदेव मुनिवर द्वारा वैरागी धर्मवर्षा

कथा :

हे मृग! तेरी सुवास से, वन हुआ चकचूर ।

कस्तूरी तुझ पास में, क्या ढूँढ़त है दूर ॥

हे आत्मन् ! तू इस देह में रहकर भी देह से भिन्न एक आत्मा है। तेरा असंख्यातप्रदेशी क्षेत्र है। तेरे एक-एक प्रदेश पर अनंतानंत गुण भरे हुए हैं। तू ज्ञान का भंडार है, सुख का खजाना है, आनंद का सागर है, उसमें डूबकी लगा। तू पंचेन्द्रियों के अनंत बाधा सहित एवं अनंत आपत्तियों के मूलभूत इन विषयों में सुख की कल्पना कर रहा है, परन्तु जरा सोच तो सही कि इस चतुर्गति रूप संसार में अनंत काल से भ्रमते-भ्रमते तूने इन्हें कब नहीं भोगा है ? इनके भोग कौन से शेष रहे हैं, जो तूने नहीं भोगे हों ? परन्तु आजतक क्या कभी एक क्षण के लिये भी इनसे सुख-शांति पाई है ?

हे भव्य ! पराधीनता में कहीं भी, किसी को भी सुख की गंध नहीं मिली है। यदि इन्द्रिय-विषयों में सुख होता तो श्री शांतिनाथ, श्री कुंथुनाथ और श्री अरनाथ भगवान तो चक्रवर्ती, कामदेव, और तीर्थंकर तीन-तीन पदवी के धारक थे, उन्हें कौन-सी कमी थी? फिर भी उन्होंने इन्द्रिय विषयों को एवं राज्यवैभव को गले हुए तृण के समान छोड़कर आत्मा के सच्चे अतीन्द्रिय सुख को अपनाया। इस शरीर रूपी कारागृह में फंसे हुए प्राणियों ने इसके नव मलद्वारों से मल का ही सजन कर मल का ही संचय किया है। यह देह मल से ही निर्मित है। उसके भोगों में सुख कहाँ से आयेगा?

नव मल द्वार बहें घिनकारी, नाम लिये घिन आवें ।

यह शरीर तो अपवित्रता की मूर्ति है और भगवान आत्मा तो सदा पवित्रता की मूर्ति है। यह देह तो रोगों का भंडार है और भगवान आत्मा तो सदा ज्ञान-आनंद का निकेतन है। यह देह तो कागज की झोपड़ी के समान क्षण में उड़ जाने वाली है और भगवान आत्मा तो शाश्वत चेतन-बिम्ब है। इसलिए हे सज्जन! तू चेत! चेत!! और सावधान हो !!!

हे जीव! तूने अनेकों बार स्वर्ग-नरक के वासों को प्राप्त किया। और नरकों में दस हजार वर्ष से लेकर, कम्रशः तेतीस सागरोपम की स्थिति को प्राप्त करके अनेकों बार वहाँ जन्म-मरण किये। वहाँ भूमिकृत एवं अन्य नारकियों द्वारा दिये गये अगणित दुःख भोगे। इसीतरह एकेन्द्रिय में एक स्वांस में अठारह बार जन्म-मरण के अपरंपार अकथित दुःख भोगे। अब तो इस भव-भ्रमण से विराम ले! यह काया दुःख की ढेरी है। ये इन्द्रिय के कल्पनाजन्य सुख नरक-निगोद के अनंतं दु:खों के कारण हैं। हे बुध! तू ही विचार कि थोड़े दुःख के बदले में मिलनेवाला अनंत सुख श्रेष्ठ है या थोड़े से कल्पित सुखों के बदले में मिलने वाला अनंत दुःख श्रेष्ठ है ?

नाम सुख अनंत दुःख, प्रेम वहाँ विचित्रता ।

नाम दुःख अनंत सुख, वहाँ रही न मित्रता ॥

हे वत्स! ऐसा सुख सदा ही त्यागने योग्य है कि जिसके पीछे अनंत दुःख भरा हो। शाश्वत सुखमयी ज्ञायक ही तुम्हारा पद है। हे भाई! ये काम-भोग तो ऐसे हैं, जिनकी श्रेष्ठजन - साधुजन स्वप्न में भी इच्छा नहीं करते। भोगीजन भी उन्हें भोगने पर स्वत: ही ग्लानि का अनुभव करते हैं। भोगने की बुद्धि भी स्वयं मोहांधरूप है। जिसे शुद्ध ज्ञानानंदमय आत्मा नहीं सुहाता, वह मग्नतापूर्वक भोगों में प्रवर्तता है, परन्तु हे भाई! वह तेरा पद नहीं है। वह तो अपद है, अपद है। इसलिए इस चैतन्यामृत का पान करने यहाँ आ ! यही तेरा पद है! पद है!!

इमि जानि आलस हानि, साहस ठानि यह शिख आदरौ ।
जबलौं न रोग जरा गहै, तबलौं झटिति निज हित करौ ॥

इतना कहकर भावदेव मुनिराज तो वन में चले गये, परन्तु यहाँ मुनिराज के मुखारविंद से धर्मामृत का पान कर भवदेव ब्राह्मण के अन्दर संसार, देह, भोगों के प्रति कुछ विरक्ति के भाव जागृत हो उठे। उसने सकल संयम धारण करने की भावना होने पर भी उसी दिन विवाह होने से अपने को महाव्रतों को धारण करने में असमर्थ जान कर अणुव्रत ही अंगीकार कर लिये। परम सुख दाता जिनमार्ग को पाकर उसके हृदय में मुनिराज को आहारदान देने की भावना जाग उठी। उसने आहारदान देने की विधि ज्ञात की और अतिथिसंविभाग की भावना से आहारदान के समय अपने द्वार पर द्वारापेक्षण कर मुनिराज के आगमन की प्रतीक्षा कर ही रहा था कि संयम हेतु आहारचर्या के लिये मुनिराज नगर में आते दिखे। मुनिराज को आते देख वह नवधाभक्तिपूर्वक बोला - "हे स्वामिन् ! नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु! अत्र, अत्र, अत्र ! तिष्ठो, तिष्ठो, तिष्ठो! मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि ! आहार-जल शुद्ध है!" - इसप्रकार मुनिराज को पड़गाहन कर गृह-प्रवेश कराया, उच्च आसन दिया एवं पाद-प्रक्षालन तथा पूजन करके आहारदान दिया। पुण्योदय से उसे आहारदान का लाभ प्राप्त हो गया। भवदेव श्रावक के हर्ष का अब कोई पार न रहा। सिद्ध-सदृश यतीश्वर को पाकर वह अपने को कृतार्थ समझने लगा और आनंद-विभोर हो स्तुति करने लगा -

धन्य मुनिराज हमारे हैं, अहो! मुनिराज हमारे हैं ॥टेक॥
धन्य मुनिराज का चिंतन, धन्य मुनिराज का घोलन ।
धन्य मुनिराज की समता, धन्य मुनिराज की थिरता ॥१॥
धन्य मुनिराज का मंथन, धन्य मुनिराज का जीवन ।
धन्य मुनिराज की विभुता, धन्य मुनिराज की प्रभुता ॥२॥

आहार लेकर श्री भावदेव मुनिराज ने वन की ओर गमन किया जहाँ उनके गुरुवर श्री सौधर्माचार्यजी विराज रहे थे। ईर्यासमितिपूर्वक योगीराज गमन कर रहे हैं, उनकी विनय करने की भावना से भरे हृदय वाले अनेक नगरवासियों के साथ भवदेव श्रावक श्री गुरुवर को वन तक पहुँचाने के भाव से उनके पीछे-पीछे चल रहा है। कुछ व्यक्ति तो थोड़ी दूर जाकर मुनिराज को नमस्कार कर वापिस अपने-अपने घर को लौट आये, मगर भवदेव सोचता था कि मुनिराज आज्ञा देंगे, तभी मैं जाऊँगा। मुनिराज तो कुछ भी बोले बिना आनंद की धुन में झूलते-झूलते आगे बढ़ते ही जा रहे थे। भवदेव सोचने लगा - "अब हम नगर से बहुत दूर आ गये हैं, इसलिए भाई को बचपन के खेलने-कूदने के स्थलों की याद दिलाऊँ, शायद इससे वे मुझे वापिस लौटने की आज्ञा दे दें।"

भवदेव बोला - "हे प्रभो! हम दोनों बचपन में यहाँ क्रीड़ा करने आया करते थे। यह क्रीड़ा-स्थल अपने नगर से कितनी दूर है? यह उद्यान भी कितनी दूर है, जिसमें हम गेंद खेला करते थे? यहाँ अपने नगर का कमलों से सुशोभित सरोवर है, जहाँ हम स्नान किया करते थे। यहाँ हम दोनों मोर की ध्वनि सुनने बैठा करते थे।"

इत्यादि अनेक प्रसंगों की याद दिलाते हुए वह चल तो रहा था मुनिराज के साथ, मगर अपने हाथ में बँधी कंकण की गाँठ को देख-देखकर उसका मन अन्दर ही अन्दर आकुलित हो रहा था। उसके पैर मूर्छित मनुष्य की तरह लड़खड़ाते हुए पड़ रहे थे, उसके नेत्रों में पत्नी की ही छवि दिख रही थी और नवीन वधू नागवसु की याद से उसका मुखकमल भी मुरझाया जैसा हो गया था।

दूसरी ओर उसके मन में अनंत सुखमय वीतरागी संतों का मार्ग भी भा तो रहा ही था, उसका मन बारंबार इन्द्रियसुख से विलक्षण अतीन्द्रिय सुख का प्रचुर स्वसंवेदन करने के लिए प्रेरित हो रहा था। एक ओर सांसारिक दुःखों की भयंकर गहरी खाई तो दूसरी ओर सादि अनंत काल के लिए आत्मिक अनंत आनंद दिख रहा था।

अरे! "किसे अपनाऊँ - किसे न अपनाऊँ ? मैं तो सुख का मार्ग ही अपनाऊँगा।" - इसप्रकार विचारमग्न भवदेव दुविधा में झूल रहा था - "अरे रे! वह नागवस्तु क्या सोचेगी? उसके ऊपर क्या बीत रही होगी? क्या एक निरपराधी के साथ ऐसा करना अनुचित नहीं होगा? क्या मैं पामर नहीं माना जाऊँगा? क्या मैं लोक में हँसी का पात्र नहीं होऊँगा?..... नहीं, नहीं लोक संज्ञा से लोकाग्र में नहीं जाया जा सकता। एक बार पत्नी और परिवारजन भले ही दु:खी हो लें, समाज कुछ भी कहे, मगर समझदारों का विवेक तो हमेशा हित-गवेषणा में तत्पर रहता है। मैं तो जैनेश्वरी दीक्षा ही अंगीकार करूँगा।"

इसप्रकार के द्वन्दों में झूलता हुआ भवदेव, मुनिराज के साथ पूज्य गुरुवर श्री सौधर्माचार्य के निकट पहुँच गया। गुरुराज को नमस्कार कर वहीं दोनों जन विनयपूर्वक बैठ गये। संघस्थ मुनिवर वृन्दों ने श्री भावदेव मुनिराज को कहा - "हे महाभाग्य ! तुम धन्य हो, जो इस निकट भव्यात्मा को यहाँ इस समय लेकर आये हो। आप दोनों मोक्षमागी आत्मा हो। आप दोनों के कंधों पर ही धर्म का स्यन्दन (रथ) चलेगा।"
वन में विराजमान मोक्ष मंडली एवं वहाँ के शांत वातावरण को देख भवदेव मन ही मन विचारने लगा - "मैं परमपवित्र इस संयम को धारण करूँ या पुनः घर जाकर नवीन वधू को संबोध कर वापिस आकर जिनदीक्षा लूँ।"
संशय के हिंडोले में झूलता हुआ भवदेव का मन एक क्षण भी स्थिर न रह सका। वह विचारता है - "अभी मेरे मन में संशय है, अतः मैं दिगंबर वेष कैसे धर सकूँगा? और मेरा मन भी कामरूपी सर्प से डसा हुआ है। मेरे जैसा दीन पुरुष इस महान पद को कैसे धारण कर सकेगा? लेकिन यदि मैं गुरु-वाक्य को शिरोधार्य न करूँ तो मेरे बड़े भ्राता को बहुत ही ठेस पहुँचेगी।"
इसतरह उसने अनेक प्रकार के विकल्पजालों में फंसे हुए अपने मन को कुछ स्थिर करके सोचा तो अंततोगत्वा उसे परमसुखदायनी, आनंदप्रदायनी जैनेश्वरी दीक्षा ही श्रेष्ठ भासित हुई। फिर भी उसके मन में यह भाव भी आया कि कुछ समय यहाँ रहकर बाद में अवसर पाकर मैं अपने घर को लौट जाऊँगा। पुन: उसका मन पलटा - "अरे! मुझे ऐसा करना योग्य नहीं। मैं अभी ही जैनेश्वरी दीक्षा अंगीकार करूँगा।"

भवदेव द्वारा मुनिदीक्षा अंगीकार

भवदेव द्वारा मुनिदीक्षा अंगीकार
कथा :
भवदेव, अनंत सुख की दाता पारमेश्वरी जिनदीक्षा के भावों से आकंठ पूरित हो गुरुवर्य श्री सौधर्माचार्य के चरणों में हाथ जोड़कर नमस्कार करता हुआ प्रार्थना करने लगा - "हे स्वामिन् ! मैंने इस संसार में अनंत दुःखों से दुःखी होकर भ्रमते हुए आज ज्ञान-नेत्र प्रदान करने वाले तथा संसार से उद्धार करने वाले आपके चरणों की शरण पायी है, इसलिये हे नाथ! मुझे जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान कर अनुगृहीत कीजिए। मैं अब इन सांसारिक दुःखों से छूटना चाहता हूँ"।
श्री सौधर्माचार्य गुरुवर ने अपने अवधिज्ञान से भवदेव के अन्दर जो विषयों की अभिलाषा छिपी हुई थी उसे जान तो लिया, लेकिन उसके साथ-साथ उन्हें उसका उज्ज्वल भविष्य भी ज्ञात हुआ कि इसकी पत्नी जो कि आर्यिका पद में सुशोभित होगी वह इसे संबोधेगी, तब यह भी महा वैराग्य-रप्त-धारी सच्चा मुनि होकर विचरेगा।
पारमेश्वरी जिनदीक्षा के अभिलाषी, वर्तमान में उदासीनता युक्त भवदेव को श्री गुरु ने अहंत धर्म की यथोक्त विधिपूर्वक जिनदीक्षा देकर अनुगृहीत किया। भवदेव ने भी पंचपरमेष्ठियों एवं सम्पूर्ण संघ तथा श्रोताजनों की साक्षीपूर्वक चौबीस प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर केशलोंच करके निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। श्री भवदेव मुनिराज सम्पूर्ण संघ के समान ही स्वाध्याय, ध्यान, व्रत एवं तप को करने लगे, परन्तु कभी-कभी उनके हृदय में अपनी पत्नी की याद भी आ जाया करती थी, जिससे वे यह सोचने लगते थे कि वह तरुणी मेरा स्मरण कर-करके दुःखी होती होगी।
"अरे! इसप्रकार के विचार करना मुझे योग्य नहीं है। अब मैंने जिनदीक्षा धारण कर ली है, इसलिए मुझे सम्यक् रत्नत्रय की ही भावना करना योग्य है। संसार की कारणभूत स्त्री के स्मरण से अब मुझे क्या प्रयोजन है?' - इसतरह भवदेव मुनि ने अपने भावों को पुनः आराधना में लगाया और संघसहित गुरुवर के साथ वर्धमानपुरी से विहार किया। अनेक वन, उपवन, जंगलों, पर्वतों आदि में विहार करते हुए पूज्य श्री गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञानदान को पाकर अध्ययन आदि के साथ संयम की आराधना करते हुए बहुत समय बीत गया।
एक बार श्री सौधर्माचार्य संघ सहित पुन: उसी वर्धमानपुरी के वनखंडों में पधारे। सर्व ही मुनिराज नगर के बाहर वन के एकांत स्थान में शुद्धात्मा के ध्यान में तल्लीन हो कायोत्सर्ग पूर्वक तप करने में संलग्न थे, उसीसमय भवदेव मुनिराज को विचार आया - "आज मैं पारणा के लिये नगर में जाऊँगा और अपने घर में जाकर अपनी मनोहर पत्नी से मिलूंगा। मेरे विरह से उसकी दशा वैसी ही होती होगी, जैसे जल के बिना मछली की होती हैं" - इसप्रकार के भाव करते हुए भवदेव मुनि वर्धमानपुरी को आ रहे हैं ।
भवदेव मुनि तो संध्या के उस सूर्य की लालिमा के समान थे, जो रात्रि होने के पहले पश्चिम दिशा को जा रहा है। नगर में आकर उन्होंने एक सुन्दर एवं ऊँचे जिनमंदिर को देखा। वह मंदिर ऊँची-ऊँची ध्वजाओं एवं तोरणों से सुशोभित था। मणिरत्नों की मालायें उसकी शोभा

बढ़ा रही थीं। वहाँ अनेक नगरवासी दर्शन कर प्रदक्षिणा देकर भावभक्ति से प्रभु की पूजन करते थे, कोई मधुर स्वर में गान कर रहे थे, कोई शांत भाव से प्रभु का गुण-स्तवन कर रहे थे, कोई आत्म-शांति-हेतु चितवन-मनन में मग्न थे तथा कोई ध्यानस्थ बैठे हुए थे। भवदेव मुनि भी जिनेन्द्रदेव का दर्शन कर अपने योग्य स्थान में बैठ गये।

नागवसु द्वारा आर्यिका व्रत धारण

नागवसु द्वारा आर्यिका व्रत धारण

कथा :

जब भवदेव अपने बड़े भ्राता भावदेव मुनिराज को विनयपूर्वक वन-जंगल तक पहुँचाने गये थे, तब आचार्य-संघ का दर्शन पा और आत्म-हितकारी उपदेश श्रवण कर भवदेव के मन में एक द्वन्द पैदा हो जाने से वे बहुत समय तक घर वापिस नहीं आये। इसलिए नागवसु को ऐसा विचार आया कि कहीं मेरे पतिदेव ने मुनिदीक्षा तो धारण नहीं कर ली है? पता चलाने पर उसके विचार सत्य ही निकले। आचार्यदेव तो संघ सहित विहार कर ही गये थे। तब नागवसु ने सोचा - "जब पतिदेव ही दीक्षित हो गये हैं, तब मैं भी क्यों न उनका ही पंथ अंगीकार करूँ?"

अन्दर में कुछ उदासी तो आ गई थी, फिर भी वह घर में रहती हुई दिन-रात द्वन्द में पड़ी-पड़ी विचार करती थी - "जब पतिदेव ने ही भोग के समय योग धारण कर लिया, संसार को ठुकराकर सच्चे सुख का मार्ग ग्रहण कर लिया तो मैं भी क्यों न सच्चे सुख का ही मार्ग ग्रहण करूँ?"

वह पुनः अपने भावों को टटोलती है - "वीतरागी मार्ग में तो कठिनाइयाँ बहुत आती हैं। मैं उपसर्ग-परीषहों को कैसे सहूँगी? वनखंडों की सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास आदि की बाधाओं को मेरा यह कोमल शरीर कैसे सहेगा? मैंने यह मार्ग कभी देखा ही नहीं, क्या पता मैं इसका निर्दोष पालन कर पाऊँगी या नहीं?" इत्यादि।

पुनः इसके भाव पलटते हैं - "अरे! गजकुमार, सुकुमाल एवं सुकौशलजी आदि तो मेरे से भी अधिक सुकोमल तन के धारी थे, बाह्य साधन-सामग्री भी बहुत थी, फिर भी उनने यह कुछ भी नहीं सोचा। बस जैसे वे अपने हित के मार्ग पर निकल पड़े थे, वैसे ही मुझे भी कुछ नहीं सोचना है। धर्म के आराधकों को तो आत्म-शांति की धुन में कुछ खबर ही नहीं पड़ती कि बाहर में क्या हो रहा है।"

मोक्षसुख की भावना से ओतप्रोत नागवस्तु ने भी पूज्य गणीजी के पास जाकर नमस्कार करके आर्यिकाव्रत प्रदान करने की प्रार्थना को - "हे माता! मेरा चित्त अब संसार के दुःखों से थक चुका है। मैंने धर्म से पराङमुख होकर नरक-निगोद के अनंत दुःख सहे हैं, अब मैं शांति चाहती हूँ, इसलिए हे माता! मुझे आत्म-शांति को देनेवाली दीक्षा देकर अपनी शरण में लीजिए।"

तभी पूज्य गणीजी ने नागवस्तु को पात्र जानकर आर्यिका के व्रत प्रदान किये। सम्यग्दर्शन एवं देशव्रतों से सुशोभित नागवस्तु आर्यिकाजी भी खूब अध्ययन एवं ध्यान में रत होकर उग्र तप करने लगी।

उनने भी अपनी भूमिका के योग्य सर्वोत्कृष्ट दशा को अंगीकार कर लिया। उग्र तपों का आदर करने से आर्यिकाजी की आत्मशांति तो वृद्धिंगत होती जा रही थी, परन्तु तन हाड़-पिंजर हो गया था तथा ज्ञान-वैराग्य रस में पगी आर्यिकाजी भी पूज्य गणीजी एवं संघ के साथ अनेक नगरों तथा वन-जंगलों में विहार करती हुई बहुत समय के बाद वर्धमानपुरी के निकटवर्ती उद्यान में आकर तिष्ठ रही थीं।

आर्यिका नागवसु द्वारा भवदेव का स्थितिकरण

आर्यिका नागवसु द्वारा भवदेव का स्थितिकरण

कथा :

वे आहार-चर्या को निकलने के पहले जब जिन-मंदिर में जिनेन्द्रदेव के दर्शन करने को गईं तो ज्ञात हुआ कि कोई मुनिराज यहाँ पधारे हुए हैं। मुनिराज को चर्या हेतु निकल जाने के बाद वह स्वयं भी चर्या को निकलीं। आहार-चर्या करने के बाद मुनिराज पुन: जिन-मंदिर में पधारे, तब श्री नागवसु आर्यिकाजी अपनी गणीजी सहित उनके दर्शनार्थ पधारी। आर्यिका-संघ ने मुनिराज को नमस्कार करते हुए रत्नत्रय की कुशलता पूछी। मुनिराज ने भी आर्यिका-व्रतों की कुशलता पूछी।

कुछ देर बाद विषय-वासना से डसे चित्त-युक्त भवदेव मुनि समभाव से आर्यिकाजी की ओर देखते हुए पूछते हैं - "हे आर्या ! इस नगर में

आर्यवसु ब्राह्मण के दो विद्वान एवं सर्वमान्य प्रसिद्ध पुत्र थे। उनमें से बड़े का नाम भावदेव एवं छोटे का नाम भवदेव था। वे वेद-पारगामी और वक्ता भी थे। हे पवित्रे! क्या आप उन्हें जानती हैं ? उनकी दशा अब कैसी है? वे किसतरह रहते हैं?"

सुचरित्रवती एवं निर्विकार भाव को रखने वाली आर्यिकाजी प्रश्न सुनते ही सोचने लगीं - "अरे! मुनिराज को तो ज्ञान-वैराग्यवर्द्धक कुछ कहना या पूछना योग्य होता है, उसके बदले में ऐसा अयोग्य प्रश्न! अवश्य ही मुनिराज के अन्दर कुछ दूसरा ही कारण लगता है ।

फिर भी आर्यिकाजी ने शांतभाव से उत्तर देते हुए कहा - "हे महाराज! उन दोनों ब्राह्मण पुत्रों का महान पुण्योदय होने से उनने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। वे मंगलमयी आत्माराधना में संलग्न हैं।"

आर्यिकाजी के वचन सुनकर आतुरचित्त भवदेव मुनि पुन: प्रश्न करने लगे, मानो वे अपने अन्दर छिपे हुए खोटे अभिप्राय को ही उगल रहे हों - "हे आर्या! भवदेव के मुनि हो जाने के बाद उसकी नव-विवाहिता नागवसु पत्नी अब किस तरह रहती है?"

बुद्धिमान आर्यिकाजी ने उसके विकार युक्त अभिप्राय को, उसके भययुक्त मन को तथा काँपते हुए शरीर को देखा तो वे विचारने लगीं - "अरे, रे! यह मुनिपद धारण करके भी कैसा मति-विमोहित हो कामाध हो रहा है? यह निश्चित ही दुस्सह कामभाव से पीड़ित हुआ होने से कांच-खंड के लिये रत्न को खो बैठा है। इसलिए धर्म से विचलित होने वालों को धर्मामृत-पान द्वारा पुन: स्थितिकरण कराना मेरा कर्तव्य है।"

व्रत, शील एवं चारित्र को दृढ़ता से पालती हुई आर्यिकाजी विनय से मस्तक झुकाकर सरस्वती के समान सुखकारी वचनों से उन्हें संबोधने लगीं।

मोक्षसाधिका नागवसु आर्यिका द्वारा भवदेव मुनि को संबोधन

मोक्षसाधिका नागवसु आर्यिका द्वारा भवदेव मुनि को संबोधन

कथा :

कषायकलिरंजितं त्यजतु चित्तमुच्चैर्भवान्
भवभ्रमणकारणं स्मरशरन्निदग्धं मुहुः ।
स्वभावनियतं सुखे विधिवशादनासादितं
भजत्वमलिनं यते प्रबलसंसृतेर्भीतितः ॥

हे यति! जो चित्त भव-भ्रमण का कारण है और बार-बार कामबाण की अग्नि से दग्ध है - ऐसे कषायक्लेश से रंगे हुए चित्त को तू अत्यन्त (पूर्णतः) छोड़ और जो विधिवशात् अप्राप्त है - ऐसे निर्मल स्वभाव-नियत सुख को तू प्रबल संसार की भीति से डरकर भज ।

तपस्या लोकेस्मिन्निखिलसुधियां प्राणदयिता
नमस्या सा योग्या शतमखशतस्यापि सततम् ।
परिप्राप्यैतां यः स्मरतिमिरसंसारजनितं
सुखं रेमे कश्चिद्वत कलिहतोऽसौ जड़मतिः ॥

इस लोक में तपश्चर्या समस्त सुबुद्धियों को प्राणप्यारी है, वह योग्य तपश्चर्या इन्द्रों को भी सतत वंदनीय है। उसे प्राप्त करके जो कोई जीव कामान्धकारयुक्त संसारजनित सुख में रमता है, वह जड़मति, अरे रे! कलि से घायल हुआ है।

आत्मध्यानादपरमखिलं घोरसंसारमूलं
ध्यानध्येयप्रमुखसुतपः कल्पनामात्ररम्यम् ।
बुद्ध्वा धीमान् सहज परमानन्दपीयूषपूरे
निर्मज्जन्तं सहजपरमात्मानमेकं प्रपेदे ।

हे बुद्धिमान ! आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य सब घोर संसार का मूल है। ध्यान, ध्येय आदि के विकल्पवाला शुभ तप भी कल्पनामात्र रम्य है - ऐसा जानकर धीमान् सहज परमानंदरूपी पीयूष के पूर में डूबते हुए ऐसे एक सहज परमात्मा का आश्रय करते हैं।

शल्यत्रयं परित्यज्य निःशल्ये परमात्मनि ।
स्थित्वा विद्वान्सदा शुद्धमात्मानं भावयेत्स्फुटम् ॥

हे श्रमण! तीन शल्यों का परित्याग करके, निःशल्य परमात्मा में स्थित रहकर, विद्वान को सदा शुद्ध आत्मा को स्फुटरूप (प्रगटरूप) से भाना चाहिए।

हे महाराज! आप पूज्य हो, धीर हो, वीर हो, निर्ग्रन्थ हो, वीतरागी हो, महान बुद्धिमान हो, धन्य हो, जो तीन लोक में महादुर्लभ ऐसा चारित्रधर्म आपने अंगीकार किया है। ये महाव्रत स्वयं महान हैं। इसे महापुरुष ही धारण करते हैं और इनका फल भी महान है। इन्द्रों से भी पूज्य और मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर समान परमपवित्र साधुपद में आप तिष्ठ रहे हो। यह साम्यधर्म मोह-क्षोभ रहित आत्मा का अत्यंत निर्विकारी चैतन्य परिणाम है, यही चारित्र एवं धर्म है और यही सर्व अनुपम गुणों एवं लोकोत्तर सुखों का निधान है।

हे महाप्रज्ञ! आप वास्तव में अति महान हो, जो कि आपने देवों को भी दुर्लभ ऐसे विपुल भोगों को पाकर भी तत्काल उनसे विरक्त हो योग धारण कर लिया।

दिखते हैं जो जग-भोग रंग-रँगीले,
ऊपर मीठे अन्दर हैं जहरीले ।
पुनि-पुनि भोगों में जलना क्या?
बिन ज्ञान जिया तो जीना क्या?

हे नाथ! ये भोग हलाहल विष समान तत्क्षण प्राणों को हरने वाले हैं और भावि अनंत दुःखों के दाता हैं। अनंत भवों में ये महा हिंसाकारक भोग कितने बार नहीं भोगे, जो आज उन्हीं की पुनः इच्छा करते हो? जरा विचारो! आप तो बारह प्रकार के अव्रत के पूर्ण त्यागी हो, अहिंसा महाव्रत और ब्रह्मचर्य महाव्रत के धारी हो। ऐसा, कौन मूर्ख है जो अमृत को छोड़कर विष की इच्छा करेगा? स्वर्ण को त्यागकर पत्थर को ग्रहण करेगा? ऐसा कौन अधम है जो स्वर्ग व मोक्ष को छोड़कर नरक जायेगा? तथा ऐसी जिनेश्वरी दीक्षा को छोड़कर इन्द्रियों के भोगों की कामना करेगा?"

इत्यादि अनेक तरह के बोधप्रद वचनों से श्री आर्यिकाजी ने उन्हें संबोधित किया। पुनः आर्यिकाजी भवदेव मुनि की भोगों की भावना को निर्मूल करने हेतु अपने शरीर की दुर्दशा का वर्णन करती हैं - "हे श्रमण! आपने जिस नागवसु के विषय में भोगों की वांछा युक्त भावों से प्रश्न किया, वह नागवसु आपके सामने मैं ही बैठी हूँ। आप देख लो! मैं आपके भोगने योग्य नहीं हूँ। मेरा यह शरीर कृमियों से पूर्ण भरा है। नव द्वारों से मल बह रहा है तथा महा अपवित्र मेरा यह शरीर है। मुख से अपवित्र लार बह रही है। सिर खरबूजे के समान हो गया है। वचन अस्पष्ट एवं लड़खड़ाते हुए निकलते हैं और स्वर भी भयानक निकलता है। दोनों कपोलों में गड्ढे पड़ गये हैं, आँखें कूप के समान भीतर ही भीतर घुस गई हैं। भुजाओं का माँस सूख गया है। सम्पूर्ण शरीर में मात्र चमड़ा और हड्डियाँ ही दिख रही हैं। अधिक क्या कहूँ? ऐसे कुत्सित शरीर को धरने वाली मैं आपके सामने बैठी हूँ। मैं सर्व कामेच्छा से रहित हूँ। श्राविका के व्रतों में मैं मेरु-समान अचल हूँ। हे धीर! यह बड़े ही शर्म की बात है और आपका बड़ा दुर्भाग्य है, जो आपने बारंबार मेरा स्मरण करके शल्य सहित इतना काल वृथा ही गंवाया। धिक्कार है! ऐसी विषयाभिलाशा को! धिकार है ! धिकार है !!

हे मुने! वास्तव में इस स्त्री-शरीररूपी कुटी में कोई भी पदार्थ सुन्दर नहीं है। इसलिए अपने मन को शीघ्र ही संसार, देह, भोगों से पूर्ण विरक्त करके, निःशल्य होकर स्वरूप में विश्रांति रूप निर्विकार चैतन्य का प्रतपन रूपी तप का साधन करो। जिससे स्वर्ग व मोक्षसुख प्राप्त होते हैं। अनेक दुःखदायी सुखाभासों को देने वाले इन विषय-भोगों में इस जन्म को व्यर्थ क्यों खोना? क्या कभी अग्नि ईंधन से तृप्त हुई है? इस जीव ने अनंत भवों मे अनंत बार स्त्री आदि के अपार भोगों को भोगा है और कई बार जूठन के समान छोड़ा है। हे वीर! भोगों में अनुराग करने से आपको क्या मिलेगा? केवल दुःख ही दुःख मिलेगा।"

धर्मरत्न श्री आर्यिकाजी के धर्मरसपूर्ण वचनों को सुनकर भवदेव मुनि महाराज का मन स्त्री आदि के भोगों से पूर्णत: विरक्त हो गया। वे मन ही मन अति लज्जित हो अपने को धिक्कारने लगे। मुनिराज प्रतिबुद्ध होकर आर्यिकाजी की बारंबार प्रशंसा करने लगे । "मैं भवदेव आपके वचनों के श्रवण से अग्निपाक संयोग सुवर्ण के समान निर्मल हो गया हूँ। हे आर्ये! आप धन्य हो। मुझ जैसे अधम के उद्धार में आप नौका समान हो। आपने मुझे मोह से भरे अगाध जलराशि में से एवं सैकड़ों आवर्तों व भ्रमरों में डूबते हुए संसार-सागर से बचा लिया है। आपका अनंत उपकार है।" - इतना कहकर मुनि भवदेवजी उठकर वन की ओर विहार कर गये।

भवदेव मुनि द्वारा उत्कृष्ट मुनिचर्या का पालन

भवदेव मुनि द्वारा उत्कृष्ट मुनिचर्या का पालन

कथा :

भवदेव मुनि महाराज जंगल की ओर चलते-चलते विचार करते जा रहे हैं कि -

अब हम सहज भये न रुलेंगे ।
बहु विधि रास रचाये अबलौं, अब नहीं वेष धरेंगे ॥टेक॥
मोह महादुख कारण जानो, इनको न लेश रखेंगे ।
भोगादिक विषय विष जाने, इनको वमन करेंगे ॥1॥
जग जो कहो तो कह लो भैया, चिंता नाहीं करेंगे ।
मुनिपद धार रहें वन मांही, काहू से नाहीं डरेंगे ॥२॥
अब हम आप सौं आपमें बसके, जग सौं मौन रहेंगे ।
हम गुपचुप अब निज में निज लख, और कछु न चहेंगे ॥३॥
निज आतम में मगन सु होकर, अष्ट कर्म को दहेंगे ।
निज प्रभुता ही लखते-लखते, शाश्वत प्रभुता लहेंगे ॥४॥
अपनी सहजता निरखी निरखी, निज दृग काहे न उमगेंगे ।
ये जग छुटो, करम भी टूटे, सिद्धशिला पे रहेंगे ॥५॥

शल्य रहित होकर मुनिराज ईर्यासमिति पूर्वक गमन करते हुए अपने गुरुवर के निकट वन में गये। जैसे - चिरकाल से समुद्र के आवर्तों में फँसा हुआ जहाज आवर्त से छूटकर अपने स्थान को पहुँचे। गुरुराज को नमस्कार करके भवदेव मुनि ने अपने योग्य स्थान में बैठकर गुरुवर के समक्ष अपना सम्पूर्ण वृत्तांत जो कुछ भी बीता था, सब कछ निश्छल भाव से कह दिया। तथा अन्त में कहा - "हे गुरुवर! मुझे शुद्ध कर अपने चरणों की शरण दीजिए।"

पूज्य गुरुवर ने भवदेव द्वारा निश्छल भाव से कहे गये दोषों को जानकर उसके दंडस्वरूप भवदेव की दीक्षा छेदकर पुन: दीक्षा देकर संयम धारण कराया। दोषों का प्रायश्चित भवदेव मुनिराज ने सहर्ष स्वीकार किया। वे संघस्थ सभी साधुओं को नमस्कार करके, निःशल्य हो, परमपवित्र शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अंगीकार करके कर्मों को जीतनेवाले भावलिंगी संत हो विचारने लगे

भवभोगपराङ्मुख हे यते पदमिदं भवहेतु विनाशनम् ।
भज निजात्मनिमग्नमते पुनस्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया ॥

निज-आत्मा में लीन बुद्धिवाले तथा भव और भोग से पराङ्मुख हुए हे यति! तुम भवहेतु का विनाश करनेवाले ऐसे इस (ध्रुव) पद को भजो! अध्रुव वस्तु की चिन्ता से तुम्हें क्या प्रयोजन है ?

समयसारमनाकुलमच्युतं जननमृत्युरुजादिविवर्जितम् ।
सहजनिर्मलशर्मसुधामयं समरसेन सदा परिपूजये ।

जो अनाकुल है, अच्युत है, जन्म-मृत्यु-रोगादि रहित है, सहज निर्मल सुखामृतमय है, उस समयसार को मैं समरस (समताभार) द्वारा सदा पूजता हूँ।

आ हा हा.....! अब भवदेव मुनिराज निरंतर अपने समयसार स्वरूप (निजात्मा) को भजने लगे। ज्ञान-ध्यान एवं उग्र-उग्र तपों में संलग्न हो अपने बड़े गुरुजनों के समान तप करने लगे।

शुभ-अशुभ से जो रोककर, निज-आत्म को आत्मा ही से।
दर्शन अवरु ज्ञान हि ठहर, परद्रव्य इच्छा परिहरे ॥
जो सर्वसंग विमुक्त ध्यावे, आत्म से आत्मा ही को ।
नहिं कर्म अरु नोकर्म चेतक, चेतता एकत्व को ॥
वह आत्म ध्याता, ज्ञान-दर्शनमय अनन्यमयी हुआ ।

बस अल्पकाल जु कर्म से, परिमोक्ष पावे आत्म का ॥

निजस्वरूपस्थ श्री भवदेव मुनिराज को अब एकमात्र मोक्ष की ही भावना शेष रह गई है और सभी प्रकार की इच्छाएँ विलय को प्राप्त हो गई हैं। वे अब क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, शत्रु, मित्र, स्वर्ण, पाषाण, हानि, लाभ, निन्दा, प्रशंसा आदि सभी में समभाव के धारी हो गये। निज स्वरूप की आराधना करते-करते अब जीवन के कुछ ही क्षण शेष रहे थे कि महान कुशल बुद्धि के धारक भावदेव और भवदेव दोनों तपोधनों ने उस शेष समय में आत्मतल्लीनतारूप परम समाधिमरण को स्वीकार कर प्रतिमायोग धारण पर विपुलाचल पर्वत कर पंडितमरण द्वारा इस नश्वर काया का त्याग कर सानत्कुमार नामक तीसरे स्वर्ग में सात सागर की आयुवाली देव पर्याय को प्राप्त किया। अहो! ऐसी आत्माराधनापूर्वक पंडितमरण करने वाले युगल तपोधनों की जय हो !! जय हो !!!

उन्नीसवाँ-अधिकार

भगवान् का निर्वाण

कथा :

मोहरूपी निद्रा के नाशक, विश्वतत्त्वों के प्रकाशक और भव्यजीवरूपी कमलों के प्रबोधक ऐसे ज्ञान-भास्कर श्री वीर स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥1॥

अथानन्तर दिव्यध्वनि के उपसंहार होने पर तथा मनुष्यों का कोलाहल शान्त होने पर महान विद्वान् एवं गुणवेत्ता सौधर्मेन्द्र ने तीन लोक के जीवों के मध्य में स्थित और समस्त प्राणियों के सम्बोधन करने में उद्यत श्री वीर भगवान को हर्ष से नमस्कार कर अपने गुणों की सिद्धि के लिए, बुद्धिमानों के उपकार के लिए और यहाँ पर धर्मतीर्थ-प्रवर्तनार्थ विहार करने के लिए जगत में सारभत, भव्यों का सम्बोधन करनेवाले गुणसमूह के कीर्तन से इस प्रकार स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥2-4॥

हे देव, मैं केवल अपने मन-वचन-काय की शुद्धि के लिए तीन लोक के दक्ष पुरुषों के द्वारा पूज्य और अनन्त गुणों के सागर ऐसे आप की स्तुति करता हूँ। क्योंकि आप की स्तुति करनेवाले जीवों के पापमल के विनाश से सर्वप्रकार की शुद्धियाँ और तीन लोक की लक्ष्मी सुख आदिक सम्पदाएँ स्वयं ही प्रकट होते हैं। ऐसा निश्चय कर हे प्रभो, आप की स्तुति करने के लिए यह सर्व योग्य सामग्री पाकर विशिष्ट फल का इच्छुक कौन विद्वान आप की स्तुति नहीं करता ? **अर्थ**ात् सभी करते हैं ॥5-7॥

आप के स्तवन करने में स्तुति, स्तोता (स्तुति करनेवाला) महान स्तुत्य (स्तुति करने के योग्य पुरुष) और स्तुति का फल; यह चार प्रकार की पापविनाशिनी उत्तम सामग्री ज्ञातव्य है ॥8। गुणों की राशिवाले अर्हन्तों के गुणों का जो विचारशील पुरुषों के द्वारा यथार्थरूप से कीर्तन किया जाता है, वह महाशुभ स्तुति कही जाती है ॥9॥

जो पक्षपात से रहित, गुण-अवगुणरूप तत्त्वों का वेत्ता, आगमज्ञ, कवीन्द्र, सम्यग्दृष्टि वाग्मी (गुणवर्णन करनेवाला) पुरुष है, वह उत्तम स्तोता कहलाता है ॥10॥

जो अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणों का समुद्र है, वीतराग है, जगत् का नाथ है, वह परम पुरुष ही सज्जनों का स्तुत्य माना गया है ॥ 11॥

स्तुति का साक्षात् फल स्तुति करनेवाले मनुष्यों को परम पुण्य का प्राप्त होना है और परम्परा फल क्रम से स्तुत्य देव से सर्व गुण-समूह का प्राप्त होना है ॥12॥

इस प्रकार यहाँ पर स्तुति की उत्तम सामग्री को पाकर हे देव, मैं आप की स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ हूँ। हे भगवन् , प्रसन्न दृष्टि से आप आज मुझे पवित्र करें ॥13॥

इस प्रकार प्रस्तावना करके इन्द्र स्तुति करना प्रारम्भ करता है । हे नाथ, आज आप के वचनरूप किरणों के द्वारा भव्यजीवों के अन्तरंग में स्थित और सूर्य के अगोचर ऐसा समस्त मिथ्यान्धकार नष्ट हो गया है ॥14॥

हे भगवन् , आप के वचनरूप तलवार के प्रहार से मोहरूपी शत्रु विनष्ट हो गया है, इसी से वह सकलगण-सहित आपको छोड़कर इन्द्रिय और मन के विषयों में निमग्न जड़ात्माओं के आश्रय को प्राप्त हुआ है ॥15॥

हे देव, आप के धर्मदेशनारूपी वज्र के प्रहार से आहत हुआ कामदेव आज अपने इन्द्रियचोरों के साथ मरण अवस्था को प्राप्त हुआ है ॥ 16॥

हे नाथ, आप के केवलज्ञानरूप चन्द्र के उदय से बुद्धिमानों को सम्यग्दर्शनादि रत्नों का दाता धर्मरूपी समुद्र वृद्धि को प्राप्त हुआ है ॥17॥
हे भगवन् , आज तीन लोक को दुःख देनेवाला भव्यों का पापरूपी शत्रु आप के धर्मोपदेशरूपी आयुध से क्षय को प्राप्त हुआ है ॥18॥
हे नाथ, आज आप से सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र आदि उत्तम लक्ष्मी को पाकरके कितने ही भव्यजीव अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए मुक्तिमार्ग पर चल रहे है ॥19॥
हे ईश, आप से रत्नत्रय और तपरूपी बाणों को पाकरके कितने ही भव्य आज मुक्ति पा ने के लिए चिरकाल से साथ में आये (लगे) हुए कर्मरूपी शत्रुओं को मार रहे हैं ॥20॥
हे प्रभो, आप महान्-महान दाता हैं, क्योंकि तीन लोक के भव्य जीवों को प्रतिदिन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्मरूप उत्तम चिन्तामणिरत्न देते हैं ॥21॥
वे धर्मरत्न चिन्तित पदार्थों को देनेवाले हैं, सारभूत हैं, अनमोल हैं और सुख के सागर हैं। अतः लोक में आप के समान कौन महान दाता और महाधनी है ॥22॥
हे स्वामिन्, आज मोहनिद्रा से नष्ट चेतनाशक्तिवाला यह जगत् आप के ध्वनिरूप सूर्य के उदय से प्रबुद्ध होकर सोने से उठे हुए के समान प्रतीत हो रहा है ॥23॥
हे विभो, आप के प्रसाद से आप के चरणों का आश्रय लेनेवाले लोगोंमें से कितने ही स्वर्गको, कितने ही सर्वार्थसिद्धि को और कितने ही परम पद मोक्ष को जा रहे हैं ॥24॥
जिस प्रकार पशुओं और देवों के साथ यह सर्व चतुर्विध संघ आप की वाणी से कर्म सन्तान का घात करने के निश्चय से सजित हुआ है, उसी प्रकार आप के विहार से इस आर्यखण्ड में उत्पन्न हुए अन्य ज्ञानी जन भी सर्व तत्त्वों को जानकर अपने पापों के संचय का घात करेंगे अन्यजीव आप के तीर्थ विहार से कितने ही भव्य जीव तपरूप खड्ग के द्वारा संसार की स्थिति का घात कर उत्तम सुख के समुद्र ऐसे मोक्ष को प्राप्त होंगे ॥27॥
कितने ही योगीजन चारित्र धारण कर अहमिन्द्र पद को सिद्ध करेंगे और कितने ही जीव आप के सत्यधर्म के उपदेश से स्वर्ग को जायेंगे ॥28॥
हे ईश, इस लोक में आप के द्वारा उपदिष्ट सन्मार्ग को प्राप्त होकर मोही जीव अपने मोह-शत्रु का घात करेंगे और पापी जीव अपने पापशत्रु का विनाश करेंगे ॥29॥
हे नाथ, भव्यजीवों को मोक्षरूपी द्वीपान्तर ले जाने के लिए सार्थवाह के समान आप ही दक्ष हैं और इन्द्रिय-कषायरूपी अन्तरंग चोरों को मार ने के लिए आप ही महाभट हैं ॥30॥
अत एव हे देव, भव्यजीवों के अनुग्रह के लिए और मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति के लिए धर्म का कारणभूत विहार कीजिए ॥31॥
हे भगवन, मिथ्यात्वरूपी दुर्भिक्ष से सूखनेवाले भव्यजीवरूपी धान्यों का धर्मरूप अमृत के सिंचन से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति के लिए हे ईश, उद्धार कीजिए ॥32॥
हे देव, जगत् को सन्तापित करनेवाले, दुर्जय मोहशत्रु को पुण्यात्मा जनों के लिए धर्मोपदेशरूप बाणों की पंक्तियों से आज आप जीतें ॥33॥
क्योंकि देवों के द्वारा मस्तक पर धारण किया हुआ, मिथ्याज्ञानरूप अन्धकार का नाशक, विजय के उद्यम का साधक यह धर्मचक्र सजा हुआ उपस्थित है ॥34॥
तथा हे नाथ, सन्मार्ग का उपदेश देने के लिए और कुमार्ग का निराकरण करने के लिए यह महान् काल आप के सम्मुख आया है ॥35॥
अतएव हे देव, इस विषय में बहुत कहने से क्या लाभ है ? अब आप विहार करके इस उत्तम आर्यखण्ड में स्थित भव्य जीवों को अपनी सद्वाणी से पवित्र कीजिए ॥36॥
क्योंकि किसी भी काल में आप के समान बुद्धिमानों के कुमार्गरूप घोर अन्धकार का नाशक और स्वर्ग-मोक्षक मार्ग का दर्शक अन्य कोई नहीं है ॥37॥
अतः हे देव, आप के लिए नमस्कार है, गुणों के समुद्र आपको नमस्कार है, अनन्तज्ञानी, अनन्त दर्शनी और अनन्त सुखी आपको मेरा

नमस्कार है ॥38॥
अनन्त महावीर्यशाली और दिव्य सुमूर्ति आपको नमस्कार है, अद्भुत महालक्ष्मी से विभूषित होकरके भी महाविरागी आपको नमस्कार है ॥39॥
असंख्य देवांगनाओं से आवृत होने पर भी ब्रह्मचारी आपको नमस्कार है । मोहारि शत्रुओं के नाशक होने पर भी दयालु चित्तवाले आपको नमस्कार है ॥40॥
कर्मशत्रु के विजेता होने पर भी शान्तरूप आपको नमस्कार है, विश्व के नाथ और मुक्तिस्त्री के वल्लभ (प्रिय) आपको नमस्कार है ॥41॥
हे सन्मति, आपको मेरा नमस्कार है, हे महावीर, आपको मेरा नमस्कार है और हे वीर प्रभो, हे देव, आत्म-सिद्धि के लिए आपको मेरा मस्तक झुकाकर नित्य नमस्कार है ॥42॥
हे देव, इस स्तवन, सद्भक्ति और नमस्कार के फल से आप हमें भव-भव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिपूर्वक अपने चरण-कमलों में एकमात्र भक्ति को ही दीजिए। हे भगवन् , हम इस के सिवाय और अधिक कुछ भी नहीं चाहते हैं। क्योंकि वह एक भक्ति ही हमारे इस लोक में और परलोक में निश्चय से तीन लोक में सारभूत सुखों को और मनोवांछित सर्व फलों को देगी॥४३-४५॥
इस प्रकार इन्द्र के निवेदन करने से भी पहले भगवान् जगत् के सम्बोधन करने के लिए उद्यत थे, किन्तु फिर भी इन्द्र की प्रार्थना से और तीर्थंकर प्रकृति के विपाक से वे त्रिजगद्गुरु भव्य जीवों को समस्त दुर्मार्गों से हटाकर और भ्रमरहित मुक्तिमार्ग पर स्थापित करने के लिए उद्यत हुए ॥46-47॥
अथानन्तर देवों के द्वारा उत्तम चवरों से वीज्यमान, द्वादश गणों से आवृत, श्वेत तीन छत्रों से शोभित और उत्कृष्ट विभूति से विभूषित भगवान् ने करोड़ों बाजों के बजने पर संसार को सम्बोधन के लिए विहार करना प्रारम्भ किया ॥48-49॥
उस समय करोड़ों पटह (ढोल) और तूर्यों (तुरई) के बजने पर तथा चलते हुए देवों से तथा छत्र-ध्वजा आदि की पंक्तियों से आकाश व्याप्त हो गया ॥50॥
हे ईश, जगत् के जीवों के शत्रुभूत मोह को जीतनेवाले आप की जय हो, आप आनन्द को प्राप्त हों, इस प्रकार से जय, नन्द आदि शब्दों की तीन लोक में घोषणा करते हुए देवगण भगवान को सर्व ओर से घेरकर निकले ॥51॥
सुर और असुर देवगण जिन के अनुगामी हैं ऐसे श्री वीर जिनेन्द्र अनिच्छापूर्वक गति को प्राप्त होते हुए सूर्य के समान विहार करने लगे ॥52॥
विहार करते समय सर्वत्र भगवान् के अवस्थान से सर्वे दिशाओं में सौ योजन तक सभी ईति-भीतियों से रहित सुभिक्ष (सुकाल) रहना है ॥53॥
धर्मचक्र जिन के आगे चल रहा है, ऐसे वीर प्रभु ने संसार के भव्य जीवों के उपकार के लिए गगनांगण में चलते हुए अनेक देश, पर्वत और नगरादि में विहार किया ॥54॥
वीर प्रभु के साम्य भाव के प्रभाव से क्रूर जातिवाले सिंहादि के द्वारा मृगादि के कदाचित् भी बाधा और भयादि नहीं होता था ॥55॥
घातिकर्मों के विनाश से विशिष्ट नोकर्मरूप अहार से पुष्ट और अनन्त सुख के भोक्ता वीतरागी भगवान् के असाता कर्म के अति मन्द उदय होने से कवलाहाररूप भोजन नहीं होता है तथा इन्द्रादि से वेष्टित और अनन्तचतुष्टय के धारक भगवान के मनुष्यादि कृत उपसगे भी नहीं होता है ॥56-57॥
समवशरण में तथा विहार करते समय सर्वत्र होनेवाली व्याख्यानसभाओं में द्वादश गणों के द्वारा त्रिजगद्गुरु चारों दिशाओं में चार मुखवाले दिखाई देते हैं ॥58॥
दुष्ट घातिकर्मों के विनाश से केवलज्ञान-नेत्र वाले भगवान् के समस्त विद्याओं का विश्वार्थदर्शक स्वामित्व प्राप्त हो गया था ॥59॥
तीर्थंकर के दिव्यदेह की छाया नहीं पड़ती है, उनके नेत्रों की कभी भी पलकें नहीं झपकती हैं और न उस त्रिलोकीनाथ के नख और केशों की वृद्धि ही होती है ॥60॥
इस प्रकार अन्य साधारण जनों में नहीं पाये जानेवाले ये दशों दिव्य अतिशय चार घातिकर्मों के नाश से प्रभु के स्वयं ही प्रकट हो गये थे ॥61॥

तीर्थंकर प्रभु की भाषा सर्वार्ध-मागधी थी जो कि सर्वाङ्ग से उत्पन्न हुई ध्वनिस्वरूप थी। वह सर्व अक्षररूप दिव्य अंगवाली, समस्त अक्षरों की निरूपक, सर्व को आनन्द करनेवाली, पुरुषों के सर्व सन्देहों का नाश करनेवाली, दोनों प्रकार के धर्म और समस्त तत्त्वार्थ को प्रकट करनेवाली थी ॥62-63॥

सद्गुरु के प्रभाव से कृष्ण सर्प और नकुल आदि जाति स्वभाव के कारण वैर पाले जीवों के बन्धुओं के समान परम मित्रता हो जाती है ॥64॥

प्रभु के प्रभाव से सभी वृक्ष सर्व ऋतुओं के फल-पुष्पादि को प्रभु के उत्तम तपों का अति महान फल दिखलाते हए के समान फलने-फलने लगे ॥65॥

इस धर्म सम्राट के सभामण्डल में ओर दर्पण के समान निर्मल दिव्य रत्नमयो हो गयी ॥66॥

जगत् को सम्बोधन करने में उद्यत और विहार करते हुए त्रिलोकीनाथ के सर्व ओर सर्व प्राणियों को सुख करनेवाला शीतल मन्द सुगन्धि वाला पवन बह ने लगता है ॥67॥

तीर्थंकर प्रभु के ध्यान-जनित महान् आनन्द से सर्वदा शोकमुक्त पुरुषों के भी धर्म और सुख का करनेवाला आनन्द प्राप्त होता है ॥68॥

पवनकुमारदेव त्रिजगद्गुरु के सभास्थान से एक योजन के अन्तर्गत भूमिभाग को तृण, कंटक और कीड़े आदि से रहित एवं मनोहर कर देते हैं ॥69॥

मेघकुमार नामक देव भक्ति से विद्युन्माला आदि से युक्त गन्धोदकमयी वर्षा जिनभगवान् के सर्व ओर करते हैं ॥70॥

प्रभु के गमन करते समय उनके चरण-कमलों के नीचे, आगे और पीछे सात-सात संख्या के प्रमाण-युक्त, दिव्य केसर और पत्रवाले सुवर्ण और रत्नमयी महा दीप्तिमान् कमलों को बिछाते हुए चलते हैं ॥71-72॥

भगवान के निकटवर्ती क्षेत्रों में संसार को तृप्त करनेवाले ब्रीहि आदि सर्व प्रकार के धान्य और सर्व ऋतुओं के फलों से नम्र वृक्ष देवों के द्वारा शोभा को प्राप्त होते हैं ॥73॥

कर्ममल से रहित जिनेन्द्र के सभास्थान में आकाश के साथ सर्व दिशाएँ देवों के द्वारा निर्मल होती हुई शोभित होती हैं, जो पाप से मुक्त हुई के समान प्रतीत होती हैं ॥74॥

तीर्थंकर प्रभु की विहारयात्रा में साथ चलने के लिए चतुर्णिकाय के देव इन्द्र के आदेश से परस् पर बुलाते हैं ॥75॥

तीर्थंकर प्रभु के चलते समय चमकते हुए रत्नों से निर्मित, दीप्तियुक्त, एक हजार आरेवाला, अन्धकार का नाशक और देवों से वेष्टित धर्मचक्र आगे-आगे चलता है ॥76॥

विश्व के मंगल करनेवाले भगवान के विहारकाल में देव लोग दर्पण आदि आठ मंगल द्रव्यरूप सम्पदा को हर्ष के साथ लेकर आगे-आगे चलते हैं ॥77॥

इन महान् चौदह अतिशयोंको, जो कि जगत् के अन्य सामान्य लोगों के लिए असाधारण हैं, महान् अतिशयशाली देव भक्ति से सम्पन्न करते हैं ॥78॥

इस प्रकार इन चौंतीस दिव्य अतिशयों से, आठ प्रातिहार्यों से, सद्ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय से एवं अन्य अनन्त दिव्य गुणों से अलंकृत वीरप्रभु ने अनेक देश-पुर-ग्राम-खेटों में क्रम से विहार करते हुए, धर्मोपदेशरूपी अमृत के द्वारा सज्जनों को तृप्त करते, बहुतों को मुक्तिमार्ग में स्थापित करते, अनेकों का तत्व-दर्शनरूप वचनकिरणों से मिथ्याज्ञानरूप कुमार्ग के गाढ़ अन्धकार को हरते, मुक्ति का मार्ग स्पष्ट रूप से प्रकाशित करते, भव्य जीवों के लिए कल्पवृक्ष के समान सम्यक्त्व ज्ञान-चारित्र-तप और दीक्षारूपी मनोवांछित महामणियों को नित्य देते हुए चतुर्विध संघ और देवों से आवृत और धर्म के स्वामी ऐसे श्री वीरजिनेन्द्र राजगृह के बाहर स्थित विपुलाचल के उन्नत शिखर के ऊपर आये ॥79-84॥

वीर प्रभु का वनपाल के मुख से आगमन सुनकर राजा श्रेणिक ने भक्तिपूर्वक पुत्र स्त्रीबन्धु अनेक भव्यजनों के साथ आकर, हर्षित हो जगद्-गुरु को भक्ति से तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया। तत्पश्चात् आत्म-शुद्धि के लिए भक्तिभार के वशंगत होकर आठ भेदरूप महाद्रव्यों से जिनेन्द्रदेवों की पूजा कर और पुनः नमस्कार कर अति भक्ति से उन की स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ ॥85-87॥

श्रेणिक ने कहा-हे नाथ, आज हम धन्य हैं, आज हमारा यह जीवन और मनुष्य जन्म पाना सफल हो गया, क्योंकि हमें आप-जैसे जगद्-

गुरु प्राप्त हुए हैं ॥88॥
आप के चरण-कमलों के देखने से आज हमारे ये दोनों नेत्र सफल हो गये हैं, आप के चरण-कमलों को प्रणाम करने से हे देव, हमारा यह सिर सार्थक हो गया है। हे स्वामिन, आज आप के चरणों की पूजा से मेरे दोनों हाथ धन्य हो गये हैं, आपको दर्शन-यात्रा से हमारे दोनों पैर कृतकृत्य हो गये हैं और आप के स्तवन से हमारी वाणी सार्थक हो गयी है ॥89-90॥
आज मेरा मन आप का ध्यान करने और गुणों के चिन्तन से पवित्र हो गया, आप की सेवाशुश्रूषा से सारा शरीर पवित्र हो गया और हमारे पापरूपी शत्रु का नाश हो गया है ॥9॥
हे नाथ, आप जैसे जहाज को पाकरके यह अपार संसार-सागर चल्ल-भर जल के समान प्रतिभासित हो रहा है। इसलिए अब हमें क्या भय है ॥12॥
इस प्रकार जगत् के नाथ वीर प्रभु की स्तुति कर, पुनः हर्ष से संयुक्त हो नमस्कार कर उत्तम धर्म को सुनने के लिए मनुष्यों के कोठे में जा बैठा ॥93॥
वहाँ पर बैठे हुए राजा ने भक्ति से जगद्-गुरु की दिव्यध्वनि के द्वारा मुनि और गृहस्थों का धर्म, सर्व तत्त्व, जिनेन्द्रों के पुराण, पुण्य-पाप के फल, सुधर्म के क्षमादिक लक्षण, और अहिंसादि व्रतों को सुना ॥94-95॥
तत्पश्चात् श्रेणिक राजा ने श्रीगौतम प्रभु को नमस्कार कर पूछा-हे भगवन् , मेरे ऊपर दया करके मेरे पूर्वजन्मों को कहिए ॥16॥
श्रेणिक के प्रश्न को सुनकर परोपकारी श्री गौतमगणधर बोले-हे श्रीमन् , मैं तेरे तीन भव से सम्बन्ध रखनेवाले वृत्तान्त को कहता हूँ सो तू सुन ॥97॥
इसी जम्बूद्वीप में विन्ध्याचल पर कुटव नामक वन में एक खदिरसार नाम का भला भील रहता था ॥98॥
उस बुद्धिमान् ने किसी समय पुण्योदय से सर्व प्राणियों के हित करने में उद्यत समाधिगुप्त योगी को देखकर प्रणाम किया ॥99॥
उन्हों ने 'हे भद्र, तुझे धर्मलाभ हो' यह आशीर्वाद दिया। यह सुनकर उस भील ने मुनीश्वर से पूछा-हे नाथ, वह धर्म कैसा है, उस से प्राणियों का क्या कार्य सिद्ध होता है। उसका क्या कारण है और उस से इस लोक में क्या लाभ है, यह मुझे वतलाइए ॥100-101॥
उसके इन वचनों को सुनकर योगिराज ने कहाहे भव्य, मधु, मांस और मदिरा आदि के खान-पान का बुद्धिमानों के द्वारा त्याग किया जाना और जीव-हिंसा से दूर रहना धर्म है ॥102॥
उस धर्म के करने पर उत्तम पुण्य होता है, पुण्य से महान स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है। ऐसे धर्म का जो लाभ (प्राप्ति) यहाँ पर हो. वही धर्मलाभ कहा जाता है ॥103॥
यह सुनकर वह भील उन से इस प्रकार बोला-हे मुनिराज, मैं मांस-भक्षण और मदिरा-पान आदि का निश्चित रूप से त्याग करने के लिए समर्थ नहीं हूँ ॥104॥
तब उसका अभिप्राय जानकर मुनिराज ने उस भील से कहा-क्या तू ने पहले कभी काक का मांस खाया, अथवा नहीं, यह मुझे बता ॥105॥
यह सुनकर वह बोला-मैं ने कभी काक-मांस नहीं खाया है । तब योगी बोले-यदि ऐसी बात है तो हे भद्र, सुख प्राप्ति के लिए तू अब उसके खा ने के त्याग का नियम ग्रहण कर। क्योंकि नियम के बिना बुद्धिमानों को कभी पुण्य प्राप्त नहीं होता है ॥106-107॥
वह भील भी मुनिराज के यह वचन सुनकर सन्तुष्ट होकर बोला-'तब मुझे व्रत दीजिए', ऐसा कहकर और उन से काक-मांस नहीं खाने का शीघ्र व्रत लेकर और मुनि को नमस्कार कर अपने घर चला गया ॥108॥
अथानन्तर किसी समय पाप के उदय से उसके असाध्य रोग के उत्पन्न होने पर वैद्य ने उस रोग की शान्ति के लिए 'काक-मांस औषध है', ऐसा कहा ॥109॥
तब काक-मांस के खा ने के लिए स्वजनों से प्रेरित हुआ वह चतुर भील इस प्रकार बोला-अहो, कोटि भवों में बड़ी कठिनता से प्राप्त व्रत को छोड़कर जो अज्ञानी अपने प्राणों की रक्षा करते हैं, उस से धर्मात्माओं का क्या प्रयोजन साध्य है ? क्योंकि प्राण तो भव-भव में सुलभ हैं, किन्तु शुभवत पाना सुलभ नहीं है ॥110-111॥
इसलिए प्राणों का परित्याग करना उत्तम है, किन्तु व्रत-भंग करके जीवित रहना अच्छा नहीं है। व्रत की रक्षा करते हुए प्राण-त्याग से स्वर्ग

प्राप्त होगा और व्रत-भंग करने से नरक प्राप्त होगा ॥112॥

(इस प्रकार कहकर उस ने औषधरूप में भी काकमांस को खाना स्वीकार नहीं किया। रोग उत्तरोत्तर बढ़ ने लगा। यह समाचार उस की ससुराल पहुँचा।) तब उसके इस नियम को सुनकर सूरवीर नाम का उसका साला शोक से पीडित होकर अपने सारस पर से चला और मार्ग में आते हए उस ने महागहन वन के मध्य में स्थित वटवृक्ष के नीचे रोती हुई किसी देवी को देखकर पूछा-हे देवते, तू कौन है, और किस कारण से रो रही है ? यह सुनकर वह बोली-हे भद्र, तुम मेरे यह वचन सुनो॥११३-११५॥

मैं वनयक्षी हूँ और इस वन में रहती हूँ। पाप के उदय से तुम्हारा खदिरसार बहनोई व्याधि से पीड़ित है । वह मरकर काक-मांस की निवृत्ति से प्राप्त पुण्य के फल से मेरा पति होगा। किन्तु हे शठ, काक-मांस खिला ने के लिए जाते हुए तुम उसे नरक में भेजकर वृथा ही घोर दुःखों का भाजन बनाना चाहते हो। इस कारण शोक से आज मैं रोदन कर रही हूँ ॥116-118॥

उस की यह बात सुनकर वह बोला-हे देवि, तुम शोक को छोड़ो, मैं उसके नियम का कभी भी भंग नहीं करूंगा ॥119॥

इस प्रकार कहकर और उसे सन्तुष्ट कर वह शीघ्र उस बीमार खदिरसार के पास आया और उसके परिणामों की परीक्षा के लिए ये वचन बोला ॥120॥

हे मित्र, रोग के दूर करने के लिए तुम्हें यह काक-मांस उपयोग में लेना चाहिए। अरे, जीवन के रहने पर यह पुण्य तो फिर भी किया जा सकता है ॥121॥

अपने साले के यह वचन सुनकर वह बुद्धिमान खदिरसार बोला-हे मित्र, ये लोक-निन्द्य, नरक देनेवाले और. धर्म के नाशक वचन कहना उचित नहीं है ॥122॥

मेरी यह अन्तिम अवस्था आ गयी है, अतः इस समय तुम धर्म के कुछ अक्षर बोलो, जिस से कि परलोक में मेरी यह आत्मा सुखी होवे ॥123॥

उसका यह निश्चय जानकर तत्पश्चात् उस ने यक्षी का सर्व कथानक और उसके व्रत का फल अतिप्रीति से खदिरसार को बतलाया ॥124॥

उसके वचन सुनकर उस सुधी खदिरसार ने धर्म और धर्म के फल में संवेग को धारण कर और सर्व प्रकार के मांसादिक को छोड़कर अणुव्रतों को ग्रहण कर लिया ॥125॥

जीवन-काल के अन्त में प्राणों को समाधि से त्यागकर वह उसके फल से सौधर्म स्वर्ग में अनेक सुखों का भोक्ता महर्धिक देव हुआ ॥126॥

तत्पश्चात् अपने नगर को जाते हुए सूरवीर ने वन के उसी स्थान पर उस यक्षी को देखकर आश्चर्ययुक्त हृदय होकर उस से स्वयं ही पूछा-हे देवि, मेरा वह बहनोई क्या अब तेरा पति हुआ है, अथवा नहीं हुआ है ? वह बोली-वह मेरा पति नहीं हुआ, किन्तु सर्व व्रतों से उपार्जित पण्य से सौधर्म नाम के प्रथम स्वर्ग में हमारी व्यन्तरों की क्षुद्र जाति से पराङ्मुख, उत्कृष्ट जाति का महाऋद्धिधारी देव हुआ है ॥127-129॥

वहाँ पर वह स्वर्ग की लक्ष्मी को पाकर जिनेश्वर देव की पूजा को करता हुआ देवियों के समूह से उत्पन्न हुए परम सुख को भोग रहा है ॥130॥

यक्षी की यह बात सुनकर वह बुद्धिमान सूरवीर अपने हृदय में इस प्रकार विचारने लगा-अहो, व्रत को शीघ्र प्राप्त हुए उत्तम फल को देखो ॥131॥

जिस व्रत के द्वारा परलोक में ऐसी स्वर्ग-सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं, उस व्रत के बिना मनुष्य को काल की एक कला भी कभी बिताना योग्य नहीं है ॥132॥

ऐसा विचार कर और शीघ्र ही समाधिगुप्त मुनिराज के पास जाकर, उन्हें नमस्कार कर उस भव्य ने गृहस्थों के व्रतों को हर्ष के साथ ग्रहण कर लिये ॥133॥

खदिरसार का जीव वह देव दो सागरोपम काल तक वहाँ के महासुखों को भोगकर और स्वर्ग से च्युत होकर पुण्य के विपाक से कुणिक राजा और श्रीमती रानी के श्रेणिक नाम से प्रसिद्ध नृपोत्तम और भव्य जीवों की पंक्ति में- से मोक्ष जाने में अग्रसर पुत्र हआ है ॥134135॥

अपने पूर्वजन्म की इस कथा को सुनने से तत्त्वों में जिनेन्द्रदेव, जिनधर्म और जिनगुरु आदि में परम श्रद्धा को प्राप्त होकर उन्हें नमस्कार कर पुनः पूछा ॥136॥

हे देव, धर्मकार्य में मेरी भारी श्रद्धा है, किन्तु किस कारण से अभी तक मेरे कोई जरा-सा भी व्रत या गुण धारण करने का भाव नहीं हो रहा है ॥137॥

यह सुनकर गौतम गणधर ने कहा-हे सुधी, तीन मिथ्यात्वभाव के द्वारा आज से पूर्व ही तू ने इसी जीवन में हिंसादि पाँचों पापों के आचरणसे, बहुत आरम्भ और परिग्रहसे, अत्यन्त विषयासक्ति से और सत्य धर्म के विना बौद्धों की भकि से नरकायु को बाँध लिया है, अतः उस दोष से तेरे रंचमात्र भी व्रत का परिग्रह नहीं है। क्योंकि देवायु को बाँधनेवाले जीव ही मुनि और श्रावक के दो भेदरूप धर्म को स्वीकार करते हैं . ॥138-140॥

(अपने नरकायु का बन्ध सुनकर राजा श्रेणिक मन ही मन विचारनेलगा-अहो भगवान् , तब इस से मेरा कै से छुटकारा होगा? उसके मन की यह बात जानकर गौतम ने कहा-) संसार से उद्धार करनेवाला सम्यक्त्व है । वह दश प्रकार का है-१ आज्ञासम्यक्त्व, 2 मार्ग सम्यक्त्व, 3 उपदेशसम्यक्त्व, 4 सूत्रसम्यक्त्व, 5 बीजसम्यक्त्व, 6 संक्षेपसम्यक्त्व, 7 विस्तारसम्यक्त्व, 8 **अर्थ**ोत्पन्नसम्यक्त्व, 9 अवगाढ़सम्यक्त्व और 10 परमावगाढ़सम्यक्त्व । यह दश प्रकार का सम्यक्त्व मोक्षरूप प्रासाद में जाने के लिए प्रथम सोपान है ॥141-142॥

सर्वज्ञदेव की आज्ञा के निमित्त से जीवादि छह द्रव्यों में दृढ़ रुचि या श्रद्धा होती है, वह उत्तम आज्ञासम्यक्त्व है ॥143॥

यहाँ पर परिग्रह-रहित निश्चेल (वस्त्र-रहित दिगम्बर) और पाणिपात्रभोजी साधु आदि के लक्षणवाले निर्ग्रन्थ धर्म को मोक्षमार्ग की जो दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह मार्ग सम्यक्त्व है ॥144॥

तिरेसठ शला का पुरुष आदि महामानवों के पुराणों को सुनने से जो आत्म-निश्चय या धर्म-श्रद्धान उत्पन्न होता है, वह लोक में उपदेशनामक सम्यक्त्व है ॥145॥

आचारादि अंगों में कही तपश्चरणक्रिया के सुनने से ज्ञानियों को जो उस में रुचि उत्पन्न होती है, वह सूत्रसम्यक्त्व है ॥146॥

बीजपदों को ग्रहण करने से और उनके सूक्ष्म **अर्थ** के सुनने से भव्यजीवों के जो तत्त्वार्थ में रुचि उत्पन्न होती है, वह बीज सम्यक्त्व है ॥147॥

जीवादि पदार्थों के संक्षेप कथन को सुनकर ही जो बुद्धिमानों के हृदय में श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सुखकारण संक्षेपसम्यक्त्व कहा जाता है ॥148॥

जीवादि पदार्थों के विस्तार-युक्त कथन को सुनकर प्रमाण और नयों के विस्तारद्वारा जो धर्म में निश्चय उत्पन्न होता है, वह विस्तार सम्यक्त्व है ॥149॥

द्वादशांगश्रुतरूप समुद्र का अवगाहन कर वचन-विस्तार को छोड़कर और **अर्थ**मात्र को अवधारण कर जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह अर्थसम्यक्त्व है ॥150॥

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत के रहस्य चिन्तन से क्षीणकषायी योगी के जो दृढ़ रुचि उत्पन्न होती है, वह अवगाढ़सम्यक्त्व है ॥151॥

तथा केवलज्ञान के द्वारा अवलोकित समस्त पदार्थों पर जो चरम सीमा को प्राप्त अत्यन्त दृढ़ रुचि उत्पन्न होती है वह परमावगाढ़ नाम का सम्यक्त्व है ॥152॥

इस प्रकार जिनेन्द्र देव ने तात्त्विक दृष्टि से सम्यक्त्व के दश भेद कहे हैं। हे राजन्, उन में से कितने भेद तेरे हैं ॥153॥

जगद्-वन्द्य दर्शनविशुद्धि आदि षोड़ा कारणोंमें से कुछ या सब कारणों से त्रिजगद्-गुरु श्री वर्धमानस्वामी के समीप जगत् में आश्चर्य का कारण तीर्थकर नामकर्म यहाँ पर निश्चय से बाँधकर जीवन के अन्त में पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से रत्नप्रभापृथिवीवाले नरक में जाओगे। वहाँ पर उपार्जित कर्मो का फल भोगकर आगामी चार काल-प्रमाण **अर्थ**ात् चौरासी हजार वर्षों के बाद वहाँ से निकलकर हे भव्य, तू महापद्मनाम का धर्मतीर्थ का प्रर्वतक, सज्जनों का क्षेम-कुशलकर्ता, आगामी उत्सर्पिणी काल में प्रथम तीर्थंकर होगा, इस में कोई सन्देह नहीं है ॥154-157॥

हे राजन् , तुम निकटभव्य हो, अब इस अल्पकालिक संसार के परिभ्रमण से मत डरो। क्योंकि इस के भीतर परिभ्रमण करनेवाले प्राणी अनेक बार पहले नरक गये हैं ॥158॥

अपनी रत्नप्रभागत नरक की प्राप्ति की बात सुनकर विषाद को प्राप्त हुए श्रेणिक ने पुनः श्री गौतमगणधर को नमस्कार करके इस प्रकार पूछा ॥159॥

हे भगवन् , इस विशाल, पुण्यधामवाले मेरे नगर में मेरे विना क्या और कोई पुरुष अधोगति (नरक) को जायेगा, या नहीं ? श्रेणिक की बात सुनकर उसके अनुग्रह करने के लिए श्रीगौतम ने कहा-हे धीमन् , तेरे शोक को दूर करनेवाले मेरे यथार्थ वचन सुनो ॥160-161॥

इसी राजगृहनगर में भवस्थिति के वश से पूर्वभव में मनुष्यायु को बाँधकर नीचगोत्र के उदय से अत्यन्त नीच कुल में उत्पन्न हुआ कालशौकरिक नाम का कसाई रहता है । अब उसे सात भव-सम्बन्धी जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ है, अतः वह विचारनेलगा है कि यदि पुण्य-पाप के फर से जीवों का सम्बन्ध होता, तो मैं ने पुण्य के बिना यह मनुष्य जन्म कै से पा लिया? इसलिए न पुण्य है और न पाप है। किन्तु इन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न हुआ वैषयिक सुख ही कल्याण-कारक है ॥162-164॥

ऐसा मानकर वह पापात्मा निःशंक होकर हिंसादि पाँचों पापों को और मांसादि के आहार को निश्चयतः करता है । इन पापों के फल से तथा बहुत आरम्भ और परिग्रह से उस ने नरकायु को बाँध लिया है । जीवन के अन्त में वह उक्त पापों के उदय से अन्तिम (सातवें) नरक को जायेगा ॥165-166॥

तथा इसी नगर में शुभानामवाली एक ब्राह्मणपुत्री है, वह राग से अन्धी और मद से विह्वल है। तीव्र स्त्रीवेद के उदय से शील-रहित है, **अर्थ**ात् व्यभिचारिणी है, और विवेक-रहित है । वह गुणी, शीलवान् और सदाचारी पुरुषों को देखकर और सुनकर अत्यन्त कुपित होती है। उस ने भी इन्द्रिय विषय-सेवन की अतीव लम्पटता से नरकायु बाँध ली है। वह भी जीवन के अन्त में रौद्रध्यान से मरकर पाप के फल से निन्द्य और .सर्वदुःखों की खानिवाली तमःप्रभा नाम की छठी नरकभूमि जायेगी॥१६७-१६९॥

(यह सुनकर राजा श्रेणिक कुछ आश्वस्त हुए।) जब गौतमस्वामी नरक जानेवाले उक्त दोनों की बात कह चुके, तब अभयकुमार ने गणधरदेव को नमस्कार करके अपने पूर्वभवों को पूछा ॥170॥

उसके अनुग्रह की बुद्धि से गौतमस्वामी ने उस की भवावली को इस प्रकार से कहना प्रारम्भ किया-हे भद्र, इस भरत क्षेत्र में सुन्दरनाम का एक ब्राह्मणपुत्र था। वह तीन मूढ़ताओं से युक्त मिथ्यादृष्टि था। वह कुबुद्धि वेदों के अभ्यास के लिए एकबार जब अहंदास जैनी के साथ मार्ग में जा रहा था तब किसी स्थान पर पीपल के वृक्ष के नीचे रखी हुई पत्थरों की राशि को देखकर 'यह मेरा देव है' ऐसा कहकर और उस वृक्ष की तीन प्रदक्षिणा देकर उस ने उसे नमस्कार किया ॥171-173॥

उस की यह चेष्टा देखकर उसे समझा ने के लिए अर्हद्दास ने हँसकर और पैर से उसे मर्दन कर उसे तोड़ दिया ॥174। वहाँ से आगे जाने पर कपिरोमा (करेंच) नाम की वेलि के समूह को देखकर उस अहंदास श्रावक ने 'यह मेरा देव है ऐसा कहकर मायाचार से उसे नमस्कार किया ॥175। यह देखकर उस सुन्दर ब्राह्मण-पुत्र ने पहले की ईर्ष्या से उसे दोनों हाथों से उखाड़कर और उस की फलियों को मसलकर सारे शरीर में रगड़ डाला। उस की रगड़ से उसके सारे शरीर में असह्य वेदना हुई । उस से डरकर वह अर्हद्दास से बोला-अहो, तेरा देव सच्चा है । तब वह जैनी हँसकर उसके सम्बोधन के लिए बोला ॥176-177॥

अरे भद्र, ये वृक्ष पाप के उदय से यहाँ एकेन्द्रिय वनस्पति की पर्याय को प्राप्त हैं। ये किसी का निग्रह या अनुग्रह करने में असमर्थ हैं, ये कभी देव नहीं कहे जा सकते ॥178॥

किन्तु सच्चे देव तो तीर्थंकर ही हैं, जो कि सांसारिक सुख और मुक्ति को देनेवाले हैं, तीन लोक के ज्ञान से युक्त हैं। वे ही पूजनीय देव हैं। उनके सिवा इस लोक में और कोई देव नहीं है ॥179॥

इत्यादि वचनों से अर्हदास ने उस ब्राह्मण-पुत्र की देव मूढ़ता को दूर किया। तत्पश्चात् क्रम से चलते हुए वे दोनों गंगा नदी के किनारे आ पहुँचे ॥180॥

तब उस मिथ्यादृष्टि ब्राह्मणपुत्र ने 'यह तीर्थजल निश्चय से पवित्र है, शुद्धि का कारण है' यह कहकर उसके जल से स्नान कर उस की वन्दना की ॥181॥

वहाँ पर उस श्रावकोत्तम अर्हद्दास ने भोजन किया और खाने का इच्छुक देखकर उस ब्राह्मणपुत्र को अपने खा ने से बचे हुए जूठे अन्न को गंगा के जल से मिश्रित कर उसे खा ने के लिए दिया । यह देखकर वह बोला कि इन जूठे अन्न को मैं कै से खा सकता हूँ ? तब उस को सन्मार्ग प्राप्त करा ने के लिए वह जैनी बोला-हे मित्र, गंगाजल से मिश्रित भी यह जूठा अन्न यदि निन्दनीय है तो गधे आदि से जूठा किया

गया जल कै से शुद्ध और शुद्धि को देनेवाला हो सकता है ॥182-184॥

अतः न जल पवित्र है, न जलस्थान तीर्थ है और न उस में किया गया स्नान मनुष्यों की शुद्धि कर सकता है। किन्तु जल में स्नान करने से अनेक प्राणियों का नाश होता है, अतः वह केवल पाप का कारण ही है ॥185॥

यह शरीर स्वभाव से अशुचि का भण्डार है, किन्तु इस के भीतर विराजमान आत्मा शुद्ध है, निर्मल है। स्नान से पवित्रता नहीं आती है, इस कारण स्नान करना व्यर्थ ही पापों का उपार्जन करनेवाला है ॥186॥

मिथ्यात्व आदि भावमल से मलिन जीव यदि स्नान करने से शुद्ध होते होवे, तब तो नित्य ही जल में स्नान करनेवाले मगर-मच्छादि वन्दन करने के योग्य हैं, दयायुक्त मनुष्य नहीं ॥187। इसलिए हे भद्र, यह गंगा तीर्थ नहीं है, किन्तु अर्हन्तदेव ही तीर्थ हैं और उनका वचनरूप अमृत जल ही जीवों की शुद्धि करनेवाला और अन्तरंग मल का विनाशक है ॥188॥

इस प्रकार तीर्थादि के सूचक सम्बोधनात्मक वचनों से अहंद्दास ने हठात् उस की तीर्थमूढ़ता दूर की ॥189॥

वहीं कुछ दूर पर गंगा के किनारे ही पंचाग्नि के मध्य में बैठे किसी तापस को देखकर वह विप्रपुत्र बोला-देखो, मेरे मत में ऐसे-ऐ से बहुत-से तपस्वी हैं॥१९०॥

तब उस अहंदास ने उसके गर्व को दूर करने के लिए कौलिकशास्त्र के तपसम्बन्धी अनेक वचनों के द्वारा उस तापस के साथ सम्भाषण किया और अपनी प्रबल युक्तियों से उसे मद-रहित करके उस जैनी ने उस ब्राह्मणपुत्र से स्पष्ट कहा-हे भद्र, ये कुतपस्वी क्या सच्चा तप करने के लिए समर्थ हैं ? **अर्थ**ात् नहीं हैं । किन्तु इस भूतल पर सर्वज्ञदेव ही सच्चे महान् देव हैं, परिग्रहरहित निर्ग्रन्थ साधु ही सच्चे साधु हैं और वे ही वन्दनीय हैं। मनुष्य को दयामयी धर्म ही सेवन करना चाहिए ॥191-193॥

जिनदेव के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त ही सत्य है और वही विश्व की सर्व वस्तुओं का दर्शक है, जिनशासन ही वन्दन करने के योग्य है और हिंसादि पापों से रहित निर्दोष तप ही प्राणियों को शरण देनेवाला है ॥194॥

इसलिए हे मित्र, कुमार्ग को शत्रु के समान छोड़कर इन सत्यार्थ देव-शास्त्र-गुरु और दयामयी धर्म का निश्चय करके सम्यग्दर्शन को ग्रहण करो। यह सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है और सर्व सुखों की खानि है ॥195॥

इस प्रकार उस अहंहास के सम्बोधक वचनों को सुनकर उस सुन्दर विप्रपुत्र ने हर्ष के साथ मिथ्यादर्शन को छोड़कर काललब्धि के प्रभाव से सत्यधर्म को ग्रहण कर लिया ॥196॥

तत्पश्चात् मित्रता को प्राप्त वे दोनों द्विज गहन अटवी के मध्य में जाते हुए पापोदय से दिग्मूढ़ता को प्राप्त हो गन्तव्य दिशा भूल गये ॥ 197॥

जीवन के उपाय से रहित निर्जन वन में एकमात्र जिनेन्द्रदेव और जिनधर्म को ही शरण जानकर उन दोनों उत्तम ज्ञानियों ने आहार-शरीर आदि का त्याग कर और उत्साह को धारण कर मुक्ति की सिद्धि के लिए संन्यास को ग्रहण कर लिया ॥198-199॥

तदनन्तर अति धैर्य के साथ क्षुधा तृषादि परीषहों को सहनकर और शुभध्यान से समाधिपूर्वक प्राणों को छोड़कर वे दोनों ब्राह्मण इस व्रताचरण से उपार्जित पुण्य के द्वारा सौधर्मस्वर्ग में भारी ऋद्धि के धारक अनेक सुरों से पूजित एवं दिव्य सुखों के भोक्ता देव हुए ॥ 200-201॥

वहाँ पर पुण्योदय से देव-सम्बन्धी सुख को चिरकाल तक भोगकर वह सुन्दर ब्राह्मण का जीववाला देव वहाँ से चय कर यहाँ पर श्रेणिक राजा के ऐसे चतुर महाप्राज्ञ अभयकुमार नाम के पुत्र हुए हो । और शीघ्र ही तप से कर्मों का क्षय करके निर्वाण को प्राप्त होओगे ॥ 202-203॥

अभयकुमार की इस पूर्वभवसम्बन्धी उत्तम कथा को सुनकर वैराग्य से परिपूर्ण हुए कितने ही लोगों ने तो संयम को ग्रहण किया और कितने ही मनुष्यों ने अपने हृदय में श्रावक धर्म और सम्यग्दर्शन को धारण किया ॥204॥

इस प्रकार गौतमस्वामी से धर्म और श्रुतरूप अमृत को पीकर अभयकुमार पुत्र के साथ श्रेणिक राजा भक्तिपूर्वक श्रीवीरजिन को और गौतम गणधर को नमस्कार कर अपने राजगृह नगर को चला गया ॥205॥

__ अथानन्तर वीर जिनेन्द्र के ग्यारह गणधरों में इन्द्रभूति गौतम प्रथम गणधर थे। दूसरे वायुभूति, तीसरे अग्निभूति, चौथे सुधर्मा, पाँचवे मौर्य, छठे मौंड्य, (मण्डिक) सातवें पुत्र (?), आठवें मैत्रेय, नवें अकम्पन, दशवें अन्धवेल, और ग्यारहवें प्रभास गणधर हुए। ये वीर

भगवान के सभी ग्यारह गणधर देव-पूजित और चार ज्ञान के धारक थे ॥206-207॥

भगवान महावीर के समवशरण में चतुर्दश पूर्व के **अर्थ** को धारण करनेवाले तीन सौ थे। नौ हजार नौ सौ चारित्र आचरण करने में उद्यत शिक्षक मुनि थे, तेरह सौ मुनि अवधिज्ञान से भूषित थे। उनके ही समान ज्ञानवाले सात सौ केवलज्ञानी थे । नौ सौ मुनि विक्रिया ऋद्धि से युक्त थे। पाँच सौ पूज्य मनःपर्ययज्ञानी थे, चार सौ अनुत्तरवादी थे। इस प्रकार ये सब मिलकर चौदह हजार साधु श्रीवर्धमानस्वामी के शिष्य परिवार में थे और ये सब रत्नत्रय से विभूषित थे ॥208-212॥

चन्दन आदिक छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं। वे सब उत्तम तप और मूलगुणों से युक्त थीं और भगवान् के चरण-कमलों को नमस्कार करती थीं ॥213॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और गहस्थव्रतों से संयक्त एक लाख श्रावक थे और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। ये सभी जिनेन्द्रदेव के चरण-कमलों को पूजते थे ॥214॥

असंख्यात देव और देवियाँ भगवान् के पादारविन्दों की दिव्य स्तुति, नमस्कार, पूजा और करोड़ों प्रकार के उत्सवों से सेवा करते थे ॥215॥

सिंह-सर्पादि शान्तचित्त, व्रत-युक्त, भक्तिमान और भवभीरु संख्यात तिथंचों ने वीर भगवान् का आश्रय लिया था.॥२१६॥

भक्तिभार से व्याप्त इन बारह गणों से वेष्टित जगत् के नाथ श्रीवर्धमान तीर्थंकर देव तत्पश्चात् धीरे-धीरे विहार करते, नाना देश-पुर-ग्राम वासी जनों को सम्बोधते, धर्मोपदेश से मोक्षमार्ग में स्थिर करते हुए तथा अपनी वचन-किरणों से अज्ञानान्धकार का नाश कर और उत्तम मार्ग का प्रकाश कर छह दिन कम तीस वर्ष तक विहार करके क्रम से फल-पुष्पादि शोभित चम्पानगरी के उद्यान में आये ॥217-220॥

वहाँ पर दिव्यध्वनि को और योग को रोककर निष्क्रिय हो उन्हों ने मुक्ति-प्राप्ति के लिए अघाति कमौ का हनन करनेवाला प्रतिमायोग ग्रहण कर लिया ॥22॥। तत्पश्चात् उन्हों ने देवगति, पाँच शरीर, पाँच संघात नामकर्म, पाँच बन्धन, तीन अंगोपांग, छह संहनन, छह संस्थान, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, दोनों विहायोगति, अपर्याप्तनाम, प्रत्येकशरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयश-कीर्ति, असातावेदनीय, नीचगोत्र और निर्माण नामकर्म इन बहत्तर संख्यावाली मुक्ति की बाधक प्रकृतियों को जिनोत्तम वर्धमान स्वामी ने योगशक्ति से अयोगिगुणस्थान में चढ़कर चौथे महाशुक्लध्यानरूप खड्ग से अपने शत्रुओं को सुभट के समान उस गुणस्थान के द्विचरम समय में एक साथ क्षय कर दिया ॥222228॥

तत्पश्चात् आदेयनाम, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यायु, पर्याप्तिनाम, त्रस, बादरनाम, सुभग, यशःकीर्ति, सातावेदनीय, उच्चगोत्र और तीर्थकरनामकमे इन तेरह प्रकृतियों को वर्धमानतीर्थश्वर ने उसी शुक्ल ध्यान के द्वारा अयोगिकेवली गुणस्थान के अन्तिम समय में क्षय कर दिया ॥229-231॥

इस प्रकार शुभ कार्तिक मास की अमावस्या तिथि के दिन स्वाति नक्षत्र में श्रेष्ठ प्रभात समय समस्त कर्मशत्रुओं के तीनों शरीरों का विनाश कर उस निर्मल आत्मा ने ऊर्ध्वगति स्वभाव होने से ऊपर जाकर निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त किया ॥232-233॥

वहाँ पर क्षायिक सम्यक्त्व आदि आठ गुणस्वरूप सिद्धपना को प्राप्त कर वे अमूर्त वर्धमान सिद्धपरमेष्ठी उपमा-रहित, विषयातीत, परद्रव्यों के सम्बन्ध से रहित, दुःखों से रहित, बाधाओं से रहित, क्रम से रहित, नित्य, स्वात्मीय, परम शुभ अनन्त सुख को भोग रहे हैं ॥234-235॥

संसार में नरपति, विद्याधरपति, देवपति, आर्य और म्लेच्छ मानव और अन्य भी तीन लोक के जीव जिस उत्तम सुख को वर्तमान में भोग रहे हैं, भूतकाल में उन्हों ने भोगा है और भविष्यकाल में वे भोगेंगे, वह सब यदि एकत्रित कर दिया जाये, तो उस से भी अनन्तगुणा वचन-अगोचर सुख मोक्ष में एक समय के भीतर भोगते हैं। ऐसा सर्वोत्कृष्ट सुख जगद्-वन्द्य वीर सिद्धप्रभु मोक्ष में निरन्तर अनन्त कालतक भोगते रहेंगे ॥236-238॥

अथानन्तर अपने-अपने पृथक् चिह्नों से भगवान् का निर्वाण जानकर समस्त चतुनिकाय के देवेन्द्रों ने अपने-अपने देव-परिवार के साथ परम विभूति से गीत-नृत्यमहोत्सव करते हुए आत्मसिद्धयर्थ अन्तिम निर्वाणकल्याणक की पूजा करने के लिए वहाँ पर आये ॥239-240॥

निर्वाण का साधक प्रभु का यह शरीर पवित्र है, ऐसा मानकर उन देवों ने चमकते हुए मणियोंवाली पालकी में बड़ी भारी विभूति के साथ उसे विराजमान किया ॥241॥

पुनः तीन जगत् में सारभूत सुगन्धी द्रव्य समूह से उस शरीर की पूजा कर भक्ति से रत्नमुकुटधारी मस्तक से उन्हों ने उसे नमस्कार किया ॥ 242॥

तत्पश्चात् अग्निकुमार देवेन्द्र के मुकुट से उत्पन्न हुई अग्नि से वह शरीर गगनाङ्गण को सुगन्धित करता हुआ पर्यायान्तर (भस्मभाव) को प्राप्त हुआ ॥243॥

___ तब इन्द्रादिक देवों ने 'यह हमारे भी शीघ्र निर्वाण का साधक हो इस प्रकार कहकर उस पवित्र भस्म को हाथ में ग्रहण करके पहले मस्तकपर, फिर नेत्रोंमें, फिर बाहुओंमें, फिर हृदय पर और फिर सर्वांगों में भक्तिपूर्वक मोक्षगति की प्रशंसा करते हुए लगाया ॥ 244-245॥

वहीं पर उस उत्तम पवित्र भमितल को उत्कृष्ट भक्ति से पजकर आगे धर्म की प्रवृत्ति के लिए उसे निर्वाणक्षेत्र संकल्पित किया ॥246॥

पुनः हर्ष से सन्तुष्ट हुए उन देवों ने एकत्रित होकर अपनी देवियों के साथ परम उत्सव पूर्वक आनन्द नाटक किया ॥247॥

तत्पश्चात् उत्तम शुक्लध्यान से घातिकर्मशत्रुओं के घात ने से उन श्री गौतम गणधर में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥248॥

वहाँ पर जाकर उन उत्तम देवेन्द्रों ने सर्व गण के साथ उनके योग्य भारी विभूति से इन्द्रभूति केवली के केवलज्ञान की पूजा की ॥249॥

इस प्रकार उत्तम चारित्र के योग से जो देव और मनुष्यगति में सारभूत महासुख को भोगकर और तीर्थ के नाथ होकर, नरपति; खगपति और सुरपतियों से पूजित हो और तत्पश्चात् सर्व कर्मो का नाश कर शिव-सदन को प्राप्त हुए, उन वीरनाथ की मैं सकलकीर्ति स्तुति करता हूँ ॥250॥

वीरजिन वीरजनों से पूजित हैं, गुणनिधि हैं, वीरजिन को वीरजन ही आश्रित होते हैं, वीर के द्वारा ही इस लोक में शिवसुख प्राप्त किया जाता है, अतः वीर के लिए मेरा नित्य नमस्कार है। वीर से परे दूसरा कोई भी पापकर्मो को जीत ने में समर्थ नहीं है, वीर का वीर्य परम श्रेष्ठ है, मैं वीर जिन में अपना मन लगाता हूँ, हे वीर, शत्रु को जीत ने में मुझे वीर करो ॥251॥

अन्तिम मंगल-कामना मैं ने चरित्र की रचना के बहा ने जो वीरप्रभु को मस्तक से नमस्कार किया है, भक्तिपूर्वक अपनी वाणी के द्वारा शक्ति के अनुसार उनके गुणों का वर्णन कर उन की प्रशंसा और स्तुति की है एवं शुभ भावों से बार-बार उन की पूजा की है, ऐसे वे श्रीवीर जिनेन्द्र मुझ लोभी को मुक्ति को प्राप्त करानेवाली और सम्यग्दर्शनादि तीन रत्नों से उत्पन्न होनेवाली सकल सामग्री को शीघ्र देवें ॥ 252॥

जिस वीरप्रभु ने बालकाल (कुमारावस्था) में भी मुक्ति को प्राप्ति के लिए रत्नत्रयजनित उत्तम संयम को ग्रहण किया, जिन्हों ने उत्तम शुक्लध्यानरूपी महान् खड्ग के द्वारा अति प्रचण्ड सर्व कर्मशत्रुओं को विनष्ट किया, वे वीर प्रभु मुझे इस लोक और परलोक में मुक्ति-दाता संयम और रत्नत्रय को देवें, तथा इन्द्रियरूपी चोरों के साथ मेरे सब कर्मशत्रुओं का मुक्ति पा ने के लिए शीघ्र विनाश करें ॥253॥

जिन्हों ने तीन लोक से स्तुति किये गये अनन्त निर्मल केवलज्ञानादि उत्तम गुण प्राप्त किये हैं, वे वीर प्रभु उन सब अपने गुणों को मुझे प्रदान करें। जिन वीर जिनेन्द्र ने मुक्तिरूपी कुमारी को विधिपूर्वक स्वीकार किया है, वे प्रभु वह अनन्त निर्मल मुक्तिलक्ष्मी सुख प्राप्ति के लिए मुझे देवें॥२५४॥

मुझ सकलकीर्ति ने यह ग्रन्थ कीति, पूजा के लाभ या किसी प्रकार के लोभ से नहीं रचा है और न कविप ने के अभिमान से ही रचा है, किन्तु इस की रचना परमार्थ बुद्धि से अपने और अन्य के उपकार के लिए तथा अपने कर्मो के विनाश के लिए की है ॥255॥

वीर जिनेन्द्र के कोटि-कोटि गुणों से निबद्ध यह पावन श्रेष्ठ चरित्र, जि से सकलकीर्ति गणी ने रचा है, उसे दोषों से रहित सुज्ञानी जन शुद्ध करें ॥256॥

इस शुभ ग्रन्थ में मेरे द्वारा प्रमादसे, अथवा अज्ञान से यदि कहीं कुछ अक्षरादि से रहित, या सन्धि-मात्रा से रहित अशुद्ध या असम्बद्ध लिखा गया हो, तो श्रुतवेत्ता ज्ञानी जन इस उत्तम चरित्र के जिन वाणी से उद्धार करने में मुझ तुच्छ बुद्धि का भारी साहस देखकर आप लोग मुझे क्षमा करें ॥257॥

जो निपुण बुद्धिवाले लोग इस शास्त्र को पढ़ते हैं और गुणियों के गुणानुराग से दूसरों को पढ़ाते हैं वे अपने विषय-कषायादि में विरतिभाव को प्राप्त होकर केवलज्ञानरूपी ज्ञानतीर्थ को शीघ्र प्राप्त करते हैं ॥258॥

जो भव्य श्रावकजन इस पवित्र ग्रन्थ को लिखते हैं और भूमण्डल पर प्रसार करने के लिए दूसरों से लिखाते हैं, वे अपने इस ज्ञानदान के

द्वारा विश्व में उत्पन्न होनेवाले सुखों को प्राप्त कर निश्चय से केवलज्ञानी होते हैं ॥259॥

पर के उपकारक, सांसारिक लक्ष्मी, स्वर्गीय भोग और मुक्ति के प्रदाता, सभी तीर्थकर, अन्त-रहित उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त, उपमा से रहित और तीन लोक के चूड़ामणि, सभी सिद्ध भगवन्त, पंच आचारों में परायण, सभी आचार्य, उत्तम श्रुतवेत्ता, सभी उपाध्याय और आत्म-साधन के उद्योग से युक्त, सभी साधुजन आप लोगों का शुभ करनेवाला.मंगल करें ॥260॥

यह वीर जिनेन्द्रदेव का चरित गुणों का समुद्र है, धर्मरत्न आदि की खानि है, भव्यों को शरण देनेवाला है, इन्द्रादिकों के द्वारा पूज्य है, स्वर्ग और मोक्ष का मूल कारण है, एवं परम पवित्र है, वह काल के अन्त-पर्यन्त इस आर्यखण्ड में सर्वत्र प्रसिद्धि को प्राप्त हो ॥26॥

यह चरित्र सुन्दर **अर्थ** से संयुक्त है, धर्म का बीज है, इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति का उत्पादक है, सत्यार्थ गुणों से युक्त है, निर्मल है, राग के नाश का कारण है, कर्मों का विनाशक है, ज्ञान का मूल है, निर्मल मुनिजनों के गुणों से पवित्र है, और अतुल गुणों से गहन है ॥262॥

जिस वीर प्रभु ने स्वर्ग और शिवगति का देनेवाला, दोषों से रहित, गुणों का समुद्र, हिंसादि से दूरवर्ती परम अहिंसामयी धर्म के सारवाला यह धर्म गृहस्थ और मुनि के रूप से दो प्रकार का कहा है, जो आज भी गृहस्थ और मुनिजनों के द्वारा नित्य प्रवर्तमान है और आगे भी नियम से प्रवर्तमान रहेगा, वह परम सुख का करनेवाला जैनधर्म जब तक इस काल की अवधि हो, तब तक सदा प्रवर्तमान रहे । इस धर्म के उपदेष्टा, एवं मेरे द्वारा वन्दित और संस्तुत वे जिनेन्द्र देव मेरे संसार को हरें ॥263॥

इस विषय में अधिक कहने से क्या, जिन वीरनाथ का मैं ने आश्रय लिया है, और इस ग्रन्थ में मैं ने जिन की स्तुति की है, वे कृपाकर शीघ्र ही अपने अद्भुत गुणों को मुक्ति और आत्मीय सुख की प्राप्ति के लिए मुझे देवें ॥264॥

श्री सन्मति के इस चरित्र के यत्न से गणना किये गये सर्वश्लोक तीन हजार पैंतीस हैं। **अर्थ**ात् मूल संस्कृतचरित्रं तीन हजार पैंतीस (3035) श्लोक प्रमाण है । इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीति-विरचित इस श्रीवीरवर्धमानचरित में श्रेणिक राजा, और अभयकुमार की भवावली तथा भगवान् के निर्वाण-गमन का वर्णन करनेवाला यह उन्नीसवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥19॥